मुद्रा
विज्ञान एवं साधना

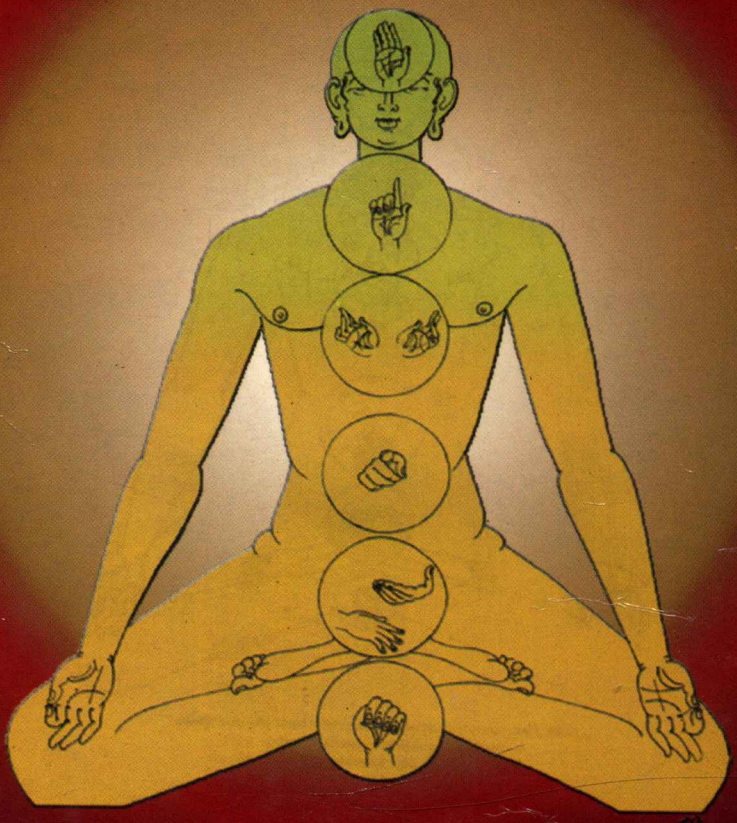

श्यामाकान्त द्विवेदी 'आनन्द'

मुद्रा
विज्ञान एवं साधना

श्यामाकान्त द्विवेदी 'आगम'

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
वाराणसी

॥ श्रीः॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला

३९०

मुद्रा : विज्ञान एवं साधना

(नित्यकर्मीय एवं तान्त्रिक मुद्राओं का सर्वाङ्गपूर्ण विवेचन)

डॉ० श्यामाकान्त द्विवेदी 'आनन्द'

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

प्रकाशक

© **चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन**

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन

पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी-२२१००१

दूरभाष : २३३५२६३; २३३३४३१

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

प्रथम संस्करण 2005

मूल्य 250.00

प्रकृत मौलिक ग्रन्थ के विषयक्रम, रेखाचित्र आदि का सर्वाधिकार प्रकाशक द्वारा स्वायत्तीकृत है।

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

३८ यू० ए०, जवाहरनगर, बंगलो रोड

पो० बा० नं० २११३

दिल्ली-११०००७

दूरभाष : २३८५६३९१

❖

चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बैंक ऑफ बडौदा भवन के पीछे)

पो० बा० नं० १०६९, वाराणसी-२२१००१

दूरभाष : २४२०४०४

अक्षर-संयोजक : मुकेश कम्प्यूटर्स, वाराणसी-०१

प्राक्कथन

भारतीय योग-साधना विश्व की श्रेष्ठतम एवं अन्यतम साधना है। भारतीय मनीषियों ने मानव-जीवन के चार पुरुषार्थ माने हैं। उनमें चतुर्थ पुरुषार्थ 'मोक्ष' है। मोक्ष का साधन 'ज्ञान' है। ज्ञान का साधन 'योग' है। गोरक्षनाथ जी ने ठीक ही कहा है कि 'अज्ञान के कारण ही संसरणरूप बन्धन है और ज्ञान द्वारा ही उसका अन्त सम्भव है—

'अज्ञानादेव संसारो ज्ञानादेव विमुच्यते'; किन्तु योग-हीन 'ज्ञान' भी मोक्ष नहीं दे सकता— 'योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवतीश्वरि'। योगहीन 'ज्ञान' एवं ज्ञानहीन 'योग' दोनों ही मोक्ष नहीं दे सकते—

योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि।

कोई भी साधक ज्ञाननिष्ठ, विरक्त, धर्मज्ञ एवं जितेन्द्रिय भी क्यों न हो; किन्तु यदि वह देवता भी हो तो भी विना 'योग' के मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता—

ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि धर्मज्ञो विजितेन्द्रियः।
विना योगेन देवोऽपि न मोक्षं लभते प्रिये।।

इसीलिए 'सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद्' में कहा भी गया है—

योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात् प्रवर्धते।
योगग्रस्तस्तु योगेन स योगी रमते चिरम्।।

योगेन योगं संरोध्य भावं भावेन चाञ्जसा।
निर्विकल्पं परं तत्त्वं सदा भूत्वा परं भवेत्।।

इसी योग-साधना का एक मुख्य अंग 'मुद्रा' है। यह आसनों से भी उत्कृष्टतर है और प्राणायामों से भी; क्योंकि इसका तात्त्विक स्वरूप सर्वातिशायी एवं अत्यन्त रहस्यान्वित है। 'मुद्रा' क्या है? 'मुद्रा' है— आनन्दश्री की प्राप्ति। समस्त योगों में प्रचलित अष्ट महासिद्धियों के सौभाग्य को तिरस्कृत करने वाली एवं ऐश्वर्यरूपिणी विमर्श शक्ति के आनन्दोत्कर्ष की परमाह्लादिनी शक्ति (श्री) की स्वात्मानुभूतिमयी अभि-व्यक्ति ही 'मुद्रा' है और वही भगवान् की तात्त्विक पूजा भी है—

आनन्दोल्लासश्रीः क्षुल्लकिताष्टमहासिद्धिसौभाग्या।
दृश्यते यत्र दशायां सैव देवस्य सर्वमुद्राः।। (महार्थमञ्जरी)

योग का वह अंग, जो समस्त नाड़ी-जाल को शोधित कर दे, चन्द्रमा एवं सूर्य को चालित कर दे, शरीर के रसों को शोषित एवं बिन्दु को ऊर्ध्वोन्मुख कर दे, उसे ही 'महामुद्रा' कहते हैं—

शोधनं नाडिजालस्य चालनं चन्द्रसूर्ययोः।
रसानां शोषणं चैव महामुद्रा विधीयते।। (गोरक्षशतक)

'मुद्रायें' अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व एवं वशित्व नामक अष्टसिद्धियाँ प्रदान करती हैं और दुर्लभ हैं—

आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम्।
वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि।। (हठयोगप्रदीपिका)

तथा ये 'मुद' (मोद) या आनन्द प्रदान करने वाली, देवताओं को प्रसन्न करने वाली तथा सिद्धों को अत्यन्त प्रिय यौगिक साधनायें हैं। इसीलिये इन्हें 'मुद्रा' की आख्या प्रदान की गई है। तान्त्रिक योग की सर्वोच्च उपलब्धि— कुण्डलिनी का ऊर्ध्वा-रोहण करते हुये परमशिव के साथ 'सामरस्य' प्राप्त करना भी मुद्रा के द्वारा ही सम्भव है। इन्हीं कारणों से इन्हें 'रत्नों की तिजोरी' कहकर अत्यन्त गुप्त रखने का उपदेश दिया गया है—

गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरण्डकम्।
कस्यचिन्नैव वक्तव्यं मूलस्त्रीसुरतं यथा।। (हठयोगप्रदीपिका)

'बन्ध' और 'मुद्रा' अष्टांगयोग में तो नहीं आते; किन्तु तान्त्रिक योग में इनकी महत्ता सर्वातिशायी है; क्योंकि तान्त्रिक योग 'शक्ति' का पुजारी होता है। वह स्वामी विवेकानन्द की तरह ही यह मानता है कि— Weakness is death अर्थात् षाट्कौशिक शरीर की अन्य कोई मृत्यु नहीं है; प्रत्युत 'कमजोरी ही मौत है'। कमजोरी है— अपूर्णता, सुषुप्ति एवं द्वैतभाव। भारतीय योगशास्त्र यह कहता है कि 'कमजोर' वह नहीं है, जिसके विषय में यह कहा जाय कि 'उसमें शक्ति ही नहीं है' या 'उसमें कम शक्ति है' या 'उसकी शक्ति क्षीण है'; प्रत्युत वह यह मानता है कि संसार का कोई भी मानव न तो शक्तिहीन है, न अल्प शक्ति वाला है और न ही शक्तिक्षीण है; प्रत्युत वह केवल वह व्यक्ति है, जिसकी 'शक्ति सो गई है, सो रही है और विना जगाये वह अनन्त काल तक सोती ही रहेगी।' इसीलिये वेदों में भी कहा गया है कि 'उठो और जागो'— 'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।' इसी शक्ति को सोने से जगाना और 'शव' से 'शिव' बनना, 'पशु' से 'पशुपति' बनना तथा 'जीवोऽहं' (सकलोऽहं) के स्थान पर 'शिवोऽहं' की अनुभूति करना या अद्वैत-परामर्श में, 'अहं देवी न चान्योऽस्मि'— मैं देवीस्वरूपा पराशक्ति हूँ' की अपरोक्षानुभूति प्राप्त करना ही तान्त्रिक योग का परम लक्ष्य है। चूँकि मुद्रायें इस परम लक्ष्य (शक्ति का जागरण, शक्ति का आयत्तीकरण, शक्ति एवं शक्तिमान का सामरस्य) की प्राप्ति का अन्यतम साधन हैं; इसीलिये तान्त्रिक योग में इनकी अन्यतम महत्ता प्रतिपादित की गई है और सुषुप्ता आदिशक्ति 'ईश्वरी' को जागृत करने का परम साधन घोषित किया गया है—

अधुना कथयिष्यामि योगसिद्धिकरं परम्।
गोपनीयं सुसिद्धानां योगं परमदुर्लभम्।।

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च।।

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्।
ब्रह्मरन्ध्रमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत्।। (शिवसंहिता)

इसी मुद्रा-साधना से कपिल आदि ऋषियों को भी अप्रतिम एवं विलक्षण सिद्धियाँ प्राप्त हुई हैं—

महामुद्रां प्रवक्ष्यामि तन्त्रेऽस्मिन्मम वल्लभे।
यां प्राप्य सिद्धाः संसिद्धिं कपिलाद्याः पुरा गताः।।

इसमें मान्त्रिक, शारीरिक, यौगिक, तान्त्रिक एवं हाव-भाव प्रदर्शित करने वाली विविध प्रकार की मुद्राओं का सन्निवेश करते हुये उसके तात्त्विक स्वरूप की व्याख्या के साथ ही साथ ही उसके स्थूल, सूक्ष्म सभी संकेतितार्थों की भी व्याख्या की गई है। यह भी प्रयास किया गया है कि पाठक मुद्राओं को उँगलियों के विशिष्ट सन्निवेश, अंगों द्वारा विभिन्न आकृतियों के निर्माण एवं साम्प्रदायिक वैभिन्य के संकेतात्मक चिह्नों के रूप में ही (मुद्राओं को) ग्रहण न कर ले; प्रत्युत उन्हें भारतीय साधना के गम्भीर रहस्यों एवं तात्त्विक दृष्टियों का भी प्रतीक समझे।

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन के सञ्चालक एवं प्रकाशक माननीय श्री वल्लभदासजी एवं श्रीनवनीतदासजी गुप्त का मैं अत्यन्त आभारी हूँ कि वे योग के सर्वातिशायी महत्त्व को स्वीकार करके और उसकी अप्रतिम महनीयता का यथार्थ मूल्यांकन करके उसके विभिन्न अंग-प्रत्यंगों पर भी रचनायें प्रकाशित करने का श्लाघ्य साहस दिखाते हुये 'मुद्रा' विषय पर यह रचना मुद्रा-जिज्ञासुओं के समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं।

विजयादशमी, 2004 ई. **श्यामाकान्त द्विवेदी 'आनन्द'**

प्रस्तावना

भारतीय धर्म-साधना की पद्धतियों में से किसी भी धर्म, सम्प्रदाय या मत की साधना-पद्धति ऐसी नहीं है, जिसमें कि मुद्रा का विधान न हो। 'मुद्रा' अपने तात्त्विक स्वरूप में वह नहीं है, जो कि अपने बाह्य स्वरूप में परिलक्षित होती है। 'मुद्रा' अपने यथार्थ स्वरूप में कोई बाह्यवर्ती एवं कर्मकाण्डीय व्यापार नहीं है। मूलतः तो यह अपने चिदानन्दात्मक आत्मस्वरूप के उन्मीलन का एक साधन है। यह केवल साधन-मात्र भी नहीं है, प्रत्युत अपने अन्तरतम में यह शिवशक्तिस्वरूप है। इसीलिये 'मालिनीविजयोत्तरतन्त्र' (अधिकार-7) में कहा गया है कि 'मुद्रा' शिव-शक्ति है—

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि मुद्राख्याः शिवशक्तयः।

इसके अनुग्रह या शक्ति से मान्त्रिक मन्त्र-सिद्धि प्राप्त कर लेता है अर्थात् यह मन्त्र-सिद्धि का साधन भी है—

याभिः संरक्षितो मन्त्री मन्त्रसिद्धिमवाप्नुयात्।

(मा. वि. तन्त्र-7.1)

'कुलार्णवतन्त्र' में तो इसकी मोदनात्मक एवं द्रावणात्मक रूप में विवेचना करके मात्र इसके साधनात्मक पक्ष को उद्घाटित करते हुये कहा है—

मुदं कुर्वन्ति देवानां मनांसि द्रावयन्ति च।
तस्मान्मुद्रा इति ख्याता दर्शितव्याः कुलेश्वरि।।

किन्तु इसका एक उच्चतर साध्य पक्ष भी है। इसके इसी साध्य पक्ष को मालिनी-विजयोत्तरतन्त्र में शिव-शक्ति कहा गया है।

स्वास्थ्य एवं रोगोपचार की दृष्टि से लाभप्रद ध्यानमुद्रा, वायुमुद्रा, शून्यमुद्रा, पृथ्वीमुद्रा, वरणमुद्रा, सूर्यमुद्रा, प्राणमुद्रा एवं शिवलिङ्गमुद्रा का आजकल अधिक उपयोग हो रहा है।

योगशास्त्रोक्त मुद्रायें (महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, उड्डीयान, मूलबन्ध, जालन्धर-बन्ध, विपरीतकरणी, वज्रोली, शक्तिचालिनी, नभोमुद्रा, योनि, वज्राणी, ताडागी, माण्डवी, शाम्भवी, अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातङ्गी, भुजङ्गिनी, पञ्चधारणी आदि मुद्रायें), तन्त्रोक्त मुद्रायें (त्रिखण्डा, सर्वसंक्षोभकारिणी, सर्वविद्राविणी, आकर्षणी, सर्ववेशकरी, उन्मादिनी, महाङ्कुशा, खेचरी, समयमुद्रा, संहारमुद्रा, बीजमुद्रा, योनिमुद्रा आदि मुद्रायें) तो हैं ही; इसके अतिरिक्त भी मुद्राओं के अनेक भेद हैं। प्रत्येक विशिष्ट साधन-पद्धति, धर्म एवं दृष्टि के अनुसार मुद्राओं के विभिन्न स्वरूप निर्मित होते रहे हैं। जैसे कि बौद्ध धर्म में कर्ममुद्रा,

धर्ममुद्रा, ज्ञानमुद्रा एवं महामुद्रा का विधान पाया जाता है। इसके अतिरिक्त भी मुद्रायें हैं। 'अद्वयवज्र' ने 'समयमुद्रा' का विधान करके इसे ही श्रेष्ठतमा मुद्रा घोषित किया है।

सिद्धसरहपा ने एक पृथक् मुद्रा 'भवमुद्रा' का उल्लेख किया है, जो कि सांसारिक सुख-दुःख और क्लेश देकर भव-बन्धन में बाँधती है— 'भव मुद्दे सअल हि जग वाहिउ।'

बौद्ध दर्शन के अनुसार बोधिचित्त के उद्बुद्ध हो जाने के अनन्तर प्राप्त मुद्राचतुष्क मोक्षप्रद है। इसीलिये इन्हें 'मुद्रा' कहा जाता है (दोहाकोष)। इसे 'मुद्रा' इसलिये कहते हैं; क्योंकि यह मुद्रण करती है—

मुद्रयते लक्षणेनेति मुद्रणं तेन भण्यते।

'श्रीसम्पुट' में लोचना, मामकी, पाण्डरा एवं तारा को क्रमशः कर्ममुद्रा, ज्ञानमुद्रा, महा-मुद्रा एवं समयमुद्रा कहा गया है।

'मुद्रा' मोद प्रदान करने वाली है— यह अर्थ बौद्ध तान्त्रिकों का है; लेकिन अन्य बौद्धों ने 'मुद्रा' का यह अर्थ स्वीकार नहीं किया; जैसा कि अद्वयवज्रसंग्रह में कहा भी गया है—

'कर्मणा काय-वाक्-चित्त-चिन्ता तु प्रधाना मुद्रा कल्पनास्वरूपा तस्यामानन्दं जायते।'

इसके बाद बौद्धतन्त्रों में अनेक नाम जोड़े गये; यथा— इन्द्रा, यमा, गौरी, वारुणी, वारि-योगिनी, कौबेरा, वज्रडाकिनी, नैरात्म्ययोगिनी, ऐशाना, वुक्कसी, पावका, राक्षसा, आशया, वायव्या, चौरिका, वैताली, भूचरी, खेचरी आदि (साधनमाला)।

'सिद्ध तिलोपा' ने कर्ममुद्रा को अधिक महत्त्व दिया है। 'बोल-कक्कोलसाधना' में भी कर्ममुद्रा को रेखाङ्कित किया गया है। अद्वयवज्र ने भी वज्र-परिणति के लिये कर्ममुद्रा को रेखाङ्कित किया है।

'श्रीसम्पुट' में कहा गया है कि भगवान् बुद्ध 'निर्माणचक्र' में लोचना मुद्रा, 'धर्मचक्र' में मामकी मुद्रा, 'सम्भोगचक्र' में पाण्डरा मुद्रा एवं 'महासुखचक्र' (महासुख काया) में तारामुद्रा से सम्भोगाश्लिष्ट हैं।

सिद्धों ने भगवती नैरात्मा को 'महामुद्रा' के रूप में कल्पित किया है।

'प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि' का मत है कि मुद्रा के उपयोग से वज्रावेक्ष जागृत होता है। बौद्ध तन्त्र में प्रधान मुद्रायें चार हैं—

1. कर्ममुद्रा (आदि अभिषेक की क्रियायें निष्पाद्य)।
2. धर्ममुद्रा (ज्ञानप्राधान्य। वैलक्षण्य एवं स्थैर्य की दशा)।
3. महामुद्रा (शुद्ध अद्वय ज्ञान। जगत् के सभी पदार्थों की प्रतिष्ठा)।
4. समयमुद्रा (योगी द्वारा सहज स्व-स्वरूप की प्राप्ति)।

तात्त्विक दृष्टि से स्वरूप-निर्वचन किया जाय तो नाद ही 'मन्त्र' और स्थिति ही 'मुद्रा'

है; जैसा कि जयरथ ने 'विवेक' में कहा है— 'नादो मन्त्रः स्थितिर्मुद्रा।' और वह मुद्रा किसी स्वाभाविक स्थिति की संज्ञा है— 'मुद्रा या काचिदास्थितिः।'

आचार्य अभिनवगुप्तपाद कहते हैं कि वह योगी, जो कुल (शरीर) में स्थित तो दृष्टिगत होता है, किन्तु 'शैवसमावेश' के परामृत में जिसका सम्पूर्ण अस्तित्व डूबा हुआ है और जो चिदैकात्म्य की दृढ़ता से देहभाव विस्मृत कर चुका है, उसकी उठने-बैठने की निःशेष क्रियायें सामान्य शारीर क्रियायें न रहकर 'मुद्रायें' ही बन जाती हैं। हाथ आदि शरीराङ्गों से निर्मित आकृतियाँ 'मुद्रा' नहीं हैं—

'कुले शरीरे सत्यपि, प्राप्तपरेश्वरैकात्म्येन योगिनः। अतएव तत्रैव दार्ढ्याद्विस्मृतदेहभावस्य, या काचन उत्थितत्वादिरूपा देहे स्थितिः सैव चिच्छक्तिप्रकृतिरूपा वास्तवी मुद्रा; न तु नियतकरादिनिर्वर्त्यसन्निवेशादिरूपा इत्यर्थः। यदुक्तम्— 'नादो मन्त्रः स्थितिर्मुद्रा।'

आचार्य अभिनवगुप्त इसी कथ्य को इन शब्दों में प्रस्तुत करते हैं—

कुले योगिन उद्रिक्तभैरवीयपरासवात्।
घूर्णितस्य स्थितिर्देहे मुद्रा या काचिदेव सा।।

(तन्त्रालोक-4.200)

मुद्राओं के प्रकार

यदि मुद्राओं के प्रकार पर प्रकाश डाला जाय तो वे अनेक दृष्टियों से वर्गीकृत किये जाने के कारण अनेक प्रकार की होती हैं। मुख्यतः ये मुद्रायें तीन प्रकार की हैं— मनोजा, वाग्भवा एवं देहोद्भवा। जैसा कि तन्त्रालोक में कहा भी गया है—

मनोजा गुरुवक्त्रस्था वाग्भवा मन्त्रसम्भवा।
देहोद्भवाङ्गविक्षेपैर्मुद्रेयं त्रिविधा स्मृता।।

'मनोजा' मुद्रायें वे होती हैं, जो मानसिक अनुसन्धान से उद्भूत होती हैं।

'वाग्भवा' मुद्रायें वे मुद्रायें कहलाती हैं, जो मन्त्रों द्वारा उद्भूत होती हैं।

'देहोद्भवा' मुद्रायें वे मुद्रायें होती हैं, जो शरीराङ्गों की विशिष्ट आकृतियों को बनाने से उद्भूत होती हैं। ये अङ्गविक्षेपात्मक मुद्रायें कहलाती हैं।

आचार्य अभिनवगुप्त (तन्त्रालोक-15.158) का मत यह है कि शरीर, मन एवं वाणी— तीनों ही से मुद्रा का प्रदर्शन करना चाहिये—

मुद्राप्रदर्शनं पश्चात् कायेन मनसा गिरा।

शिव-शक्ति का स्वरूप ही मुद्राओं का तात्त्विक स्वरूप है— मुद्राख्याः शिवशक्तयः।'

मुद्राओं के प्रयोजन के सन्दर्भ में सामान्य विश्वास यह है कि मुद्राओं के प्रदर्शन से सम्बद्ध शक्तियों का प्रादुर्भाव हो जाता है।

मुद्रा की परिभाषा

जो दुष्ट ग्रहों से साधक को मुक्त कर दे एवं पापसमूह को द्रवीभूत कर दे, गला दे, वह मोचन-द्रावणकारिणी शक्ति ही 'मुद्रा' कहलाती है—

मोचयन्ति ग्रहादिभ्यः पापौघं द्रावयन्ति च।
मोचनं द्रावणं यस्मान्मुद्रास्ताः शक्तयोः मताः।।

स्वच्छन्दतन्त्र में मुद्रा की तात्त्विक व्याख्या करते हुये कहा गया है कि मन्त्र तो ज्ञान-शक्ति है; लेकिन मुद्रा परमात्मा की क्रियाशक्ति है—

मन्त्रो वै ज्ञानशक्तिश्च मुद्रा चैव क्रियात्मिका।

'नेत्रतन्त्र' में कहा गया है कि आत्मा के स्वरूप की अभिव्यक्ति हेतु तीन साधन हैं— मन्त्र, ध्यान और मुद्रा।

आचार्य क्षेमराज मुद्रा की व्याख्या करते हुये कहते हैं कि 'मुदो हर्षस्य राणात् पाश-मोचनभेदद्रावणात्मत्वात् परसंविद् द्रावणमुद्रणाच्च मुद्रा।'

क्षेमराज का कथन है कि जब मुद्रा के द्वारा अणु (आत्मा) मुद्रित हो जाता है अर्थात् वशीभूत हो जाता है तब मन्त्रवीर्य की स्फुरत्ता द्वारा, विज्ञान द्वारा आत्मा द्वादशान्तपर्यन्त प्रसृत हो जाता है। नेत्रतन्त्र (7.33) भी मुद्रा की इसी अर्थ में व्याख्या करता है—

मुद्रया तु तया देवि आत्मा वै मुद्रितो यदा।
तदा चोर्ध्वं तु विसरेद्विधानेनोर्ध्वतः क्रमात्।।

नेत्रतन्त्र (21.10) में स्वात्मस्वरूपाभिव्यक्ति के जो तीन साधन बताये गये हैं, उनमें मन्त्र, ध्यान एवं मुद्रा— तीनों ही को गृहीत किया गया है।

शैव-शाक्त परम्परा में मुद्रा का अर्थ 'शक्ति' है, जो कि योगिनी-साधिका के रूप में प्रस्तुत होकर भैरवीचक्र की पूजा सम्पन्न करने में एक शक्ति की भूमिका निष्पन्न करती है।

संगीतशास्त्र में जो नृत्य का वर्णन आता है, उसमें नृत्य के साथ-साथ अनेक भाव-भङ्गिमायें भी प्रस्तुत की गई हैं। वे सारे शारीर हाव-भाव नृत्य-व्यापार में नर्तक के मनोभाव को व्यक्त करते हैं। ये बाह्य दृश्यों, घटनाओं, मनोभावों, मानसिक स्थितियों, भावोद्वेगों एवं रसानुभूतियों को व्यक्त करते हैं।

अद्वयप्रधान शास्त्रों में सभी कुछ स्वात्मस्वरूप ही प्रतीत माना जाता है; अतः वहाँ मुद्रा भी परसंविद्रूपा ही मानी जाती है।

यथार्थ दीक्षा एवं यथार्थ भैरव-विमर्शन के समय साधक भैरवीभाव से अभिभूत हो जाता है; अतः भैरव की उपासना में उनकी मुद्राओं का भी प्रदर्शन करना चाहिये। भगवान् शिव ने भगवती पार्वती से इसी विषय पर जोर देकर कहा है कि—

एता मुद्रा महादेवि! भैरवस्य प्रदर्शयेत्।
आवाहने पूजनान्ते तथा चैव विसर्जने।।

आचार्य जयरथ भी इसी की पुष्टि में कहते हैं कि 'ननु एवं स्वात्मनि भैरवीभावः कृतो भवेत्। भैरवस्य सन्निधिनिमित्तमवश्यप्रदर्शनीया मुद्राः।'

योगिनीहृदय (चक्रसङ्केत) में कहा गया है कि—

चिदात्मभित्तौ विश्वस्य प्रकाशामर्शने यदा।
करोति स्वेच्छया पूर्णा विचिकीर्षासमन्विता।।
क्रियाशक्तिस्तु विश्वस्य मोदनाद् द्रावणात्तथा।
मुद्राख्या सा यदा संविदम्बिका त्रिकलामयी।।

आचार्य भास्करराय अपने सेतुबन्ध (चक्रसङ्केत-56) में कहते हैं कि 'जब चिच्छक्ति स्वात्माभिन्न भित्ति में स्वेच्छापूर्वक विश्वमयोल्लेख का 'प्रकाश' में आमर्शन करती है, तब वे ही क्रियाशक्ति बनकर विश्व के मोदन एवं द्रावणरूप धर्मद्वय से विशिष्ट होकर 'मुद्रा' नाम वाली कहलाती हैं'—

'यदा तावच्चिच्छक्तिः स्वात्माभिन्नायां भित्तावधिकरणे स्वेच्छया विश्वमयोल्लेखस्य प्रकाशामर्शने करोति। ..... तदा सैव क्रियाशक्तिर्भूत्वा विश्वस्य मोदनद्रावणरूपधर्मद्वयविशिष्टा सती मुद्राख्या भवति।'

महेश्वरानन्द अपने 'परिमल' में कहते हैं कि—

आनन्दोल्लासश्रीः क्षुल्लकिताष्टमहासिद्धिसौभाग्या।
दृश्यते यत्र दशायां सैव देवस्य सर्वमुद्राः।।

वे कहते हैं कि जिस दशा में समस्त योगप्रचलित अष्ट महासिद्धियों के सौभाग्य को तिरस्कृत करने वाली ऐश्वर्यरूपिणी, परमात्म-विमर्श के आनन्द के उत्कर्ष की, 'श्री' अर्थात् परमाह्लादिनी शक्ति अभिव्यक्ति या स्वानुभूतिमयी रूप से प्रकाशित होती है। वही परमात्मा की पूजा की 'मुद्रा' है।

जिस अवस्था में पूज्य-पूजकत्वरूप दोनों स्वभावों में सामरस्य स्थापित करके स्थित परमेश्वर का स्वविश्रान्तिलक्षणात्मक आनन्द के प्रति जो उल्लास है तथा उस समय जो परामृश्यमान स्वातन्त्र्यसारात्मक स्फुरत्ता होती है, उसकी 'श्री' (अमित वैभव) की अनुस्यूति जिसमें होती है, उन्हें ही करङ्किणी, संक्षोभिणी आदि 'मुद्रा' कहा जाता है।

निस्तरङ्ग समुद्रावस्थानस्थानीय वह स्वविश्रान्तिचमत्कार या आत्मपरामर्श क्रियारूप अलौकिक आनन्द, जिसमें समस्त फेन, बुद्बुद एवं बिन्दु आदि बाह्यानन्दरूप परिस्पन्द आत्मविलीन हो चुके हों, वही मोद (आनन्द) प्रदान करने के कारण करङ्किणी आदि मुद्राप्रपञ्च के उदय एवं विलय की भूमि होने के कारण 'मुद्रा' नाम से प्रसिद्ध है—

'निस्तरङ्गसमुद्रावस्थानस्थानीया तत एव स्वान्तर्विलीनफेनबुद्बुदबिन्द्वादिप्रायाशेषबाह्यानन्दपरिस्पन्दा स्वविश्रान्तिचमत्काराऽपरपर्यायपरामर्शक्रियारूपा काचिदलौकिकानुभूतिरानन्दसम्पन्मुदं रातीति व्युत्पत्त्या करङ्किण्याद्यन्यमुद्राप्रपञ्चोदयविलयभूमिर्मुद्रात्वेनानुसन्धेयेति।' कहा भी गया है—

सा सिद्धिः सर्वसिद्धीनां सिद्धित्वे परिकीर्तिता।
ज्ञानं ह्यकलितं चैकं मुद्रा चैका ग्रहात्मिका।
द्वावेतौ यस्य जायेते सोऽन्वयी सिद्धशासने।।

आनन्द के प्रति परानन्द, निरानन्द, महानन्दानन्द, विषयानन्द के स्वभावतः सम्पूर्ण आनन्द-सामरस्य को उन्मीलित करने हेतु जो 'उल्लास' है, वही 'श्री' है। कहा भी गया है— कौलार्णवानन्दमयोर्मिरूपाम्।'

चिद्गगनचन्द्रिका में भी कहा गया है कि—

यत् परो निरुपसर्गतः परः स्यान्महानपि च केवलः शिवे।
उत्तरश्च विषयात् स च त्वदानन्द उल्लससि तद्धनासि यत्।।

उक्त गाथा में महेश्वरानन्द ने 'श्री' को इसी अर्थ में गृहीत किया है और ऐसी ही 'श्री' से मुद्रा रसासिक्त है।

तन्त्रराजतन्त्र में कहा गया है कि भगवती ललिता देवी 'प्रकाश' शिव की विमर्शशक्ति हैं। भास्कर्राय के अनुसार भगवती का लौहित्य कामेश्वर, ललिता एवं साधक की आत्मा है। यह भी कहा गया है कि 'लौहित्यमेतस्य सर्वस्य विमर्शः' (Redness is the Vimarsh of all this)। अपनी आत्मा ललिता देवी हैं और विश्व उनका शरीर है। इसी विश्वशरीरा एवं सर्वात्मरूपा भगवती ललिता को जो आनन्दित कर दे, वही 'मुद्रा' है। जो उन पराभट्टारिका, राजराजेश्वरी महात्रिपुरसुन्दरी भगवती को साधक के प्रति उत्प्रेरित कर दे, उसे भी 'मुद्रा' कहते हैं। 'तन्त्रराजतन्त्र' में बीस मुद्राओं का उल्लेख है; यथा— आवाहनी, स्थापिनी, सन्निरोधनी, अवगुण्ठनी, सन्निधापिनी, हेति (बाण, धनुष, पाश, अंकुश), नमस्क्रिया, संक्षोभिणी, द्राविणी, आकर्षिणी, वश्या, उन्मादनी, महांकुशा, खेचरी, बीज, योनि, शक्त्युत्थापनी (त्रिखण्डा)। तन्त्रराजतन्त्र में मुद्राओं के तीन भेद बताये गये हैं— स्थूल, सूक्ष्म और पर।

तन्त्रराजतन्त्र के अनुसार भगवती के बाण, धनुष, पाश एवं अंकुश भी मुद्रायें हैं और इनका प्रतीकात्मक अर्थ इस प्रकार है—

1. शब्दादितन्मात्राः पञ्चपुष्पबाणाः (21)।
2. मन इक्षु धनुः (22)।
3. रागः पाशः (23)।
4. द्वेषोऽङ्कुशः (24)।

'रहस्यनामसाहस्र' में भी इन मुद्राओं का अर्थ इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

रागस्वरूपपाशाढ्या क्रोधाकाराङ्कुशोज्ज्वला।
मनोरूपेक्षुकोदण्डा पञ्चतन्मात्रसायकाः।।

तन्त्रराजतन्त्र में भी कहा गया है—

.....तन्मात्राः पुष्पसायकाः।
मनो भवेदिक्षुधनुः पाशो राग उदीरतः।
द्वेषः स्यादङ्कुशः प्रोक्तः क्रमेण वरवर्णिनी।।

'देवीयामल' में मुद्रा को शारीरिक भौतिक कर्मकाण्डीय न मानकर उसे उसके तात्त्विक स्वरूप में ग्रहण करते हुये कहा गया है कि मुद्रा देह द्वारा स्वात्मस्वरूपोन्मीलन या स्वरूपलाभ कराकर आनन्द प्रदान कराने वाली एक विशिष्ट क्रिया है—

मुदस्वरूपलाभाख्यं देहद्वारेण चात्मनाम्।
रात्यर्पयति यत्तेन मुद्रा शास्त्रेषु वर्णिता।।

योगिनीहृदय में तो कहा गया है कि भगवती 'संवित्' ही क्रियाशक्ति के रूप में विश्व का मोदन एवं द्रावण करती हुई 'मुद्रा' कहलाती है।

आचार्य शिवानन्द ने मुद्राओं को किन्हीं शक्तियों का स्वरूप बताया है। शिवानन्द शरीर की विशेष क्रियाओं एवं अङ्गुली-सन्निवेशमात्र को मुद्रा नहीं मानते; बल्कि इसके स्वरूप को इससे उच्चतर भावभूमि पर प्रतिष्ठित मानते हैं। योगिनीहृदय में कहा गया है कि मुद्रा की अनेक विशेषतायें एवं शक्तियाँ हैं—

शृणु देवि! प्रवक्ष्यामि मुद्राः सर्वार्थसिद्धिदाः।
याभिर्विरचिताभिस्तु सम्मुखा त्रिपुरा भवेत्।।

स्पष्ट है कि मुद्रा के मुख्यतः दो कार्य हैं— समस्त सिद्धियों की प्रदायकता और त्रिपुरा देवी का साक्षात्कार। मुद्रा पाशजाल का द्रावण करती है और तन्निष्ठ भक्तों का पाश से मोचन करती है; इसलिये भी इसे 'मुद्रा' कहते हैं—

द्रावणात् पाशजालस्य तत्परस्य च मोचनात्।
मुद्रापीठमिति प्रोक्तं कामरूपं नमाम्यहम्।।

दीपमालिका, वि. सं.-2061 **श्यामाकान्त द्विवेदी 'आनन्द'**
सीधी-मध्य प्रदेश

विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठाङ्क
मुद्रा विज्ञान : एक परिचय	**1-33**
2. मुद्राओं के अभ्यास का उद्देश्य	4
3. मुद्रा के कार्य	9
4. मुद्रा के भेद	10
5. कौलावली-निर्णय और मुद्रा विधान	11
6. मुद्राशोधन	12
7. गोरक्षनाथोपदिष्ट अष्ट मुद्रायें	14
8. उन्मनी मुद्रा की प्रक्रिया	17
9. अमनस्क और राजयोग	19
10. उन्मनी मुद्रा, आज्ञाचक्र एवं ध्यान	24
11. उन्मनी अवस्था और उसमें स्थित योगी के लक्षण	25
12. क्रममुद्रा	25
13. शाम्भवी मुद्रा और उसका विशेष महत्त्व	27
14. शाम्भवी मुद्रा और आज्ञाचक्र का महत्त्व	28
15. आसन एवं प्राणायाम के अभ्यास में आज्ञाचक्र की साधना	32
मुद्रातत्त्व एवं साधना	**34-118**
16. मुद्रा के कार्य	35
17. मुद्रा-साधन के फल	35
18. मुद्रासम्बधिनी दार्शनिक दृष्टि	37
19. मुद्रा में मानसिक स्थिति	38
20. स्वरोदय शास्त्र और मुद्रा	39
21. तान्त्रिक बौद्ध साधना और मुद्रा	39
22. मुद्राभ्यास का उद्देश्य	40
23. मुद्रा साधना का महत्त्व	41
24. मुद्राभ्यास की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि	41
25. मुद्राओं के प्रकार (हठयोगप्रदीपिका, घेरण्डसंहिता, शिवसंहिता, मालिनी-विजयोत्तर तन्त्र, तन्त्रालोक आदि में वर्णित मुद्रा के प्रकार)	41
26. मुद्रा के 10 या 25 भेद	44
27. गोरक्षनाथ के योगबीज की दृष्टि	44
28. मुद्रा-प्रदर्शन के प्रकार	46
29. मुद्राओं का आदर्श स्वरूप	46
30. बौद्ध तन्त्रों की मुद्रायें	47
31. मुद्रा : आनन्द और क्षण (बौद्ध-दर्शन) (नारोपा, यामुनाचार्य, पाञ्चरात्र, नेत्रतन्त्र, नित्याषोडशि-कार्णव आदि का मत)	48
मुद्राओं के विभिन्न भेद	**52-118**
32. महामुद्रा और उसका स्वरूप	52
33. महाबन्ध और उसका स्वरूप	56
34. महावेध और उसका यथार्थ स्वरूप	58
35. खेचरी मुद्रा और उसका स्वरूप	61
36. उड्डीयान बन्ध और उसका स्वरूप	70
37. स्वरोदयोशास्त्र में आसन-विधान	73
38. मूलबन्ध और उसका स्वरूप	74
39. माण्डूकी मुद्रा	78
40. ताडागी मुद्रा	78
41. अश्विनी मुद्रा	78
42. पाशिनी मुद्रा	78
43. जालन्धर बन्ध और उसका स्वरूप	78
44. योनिमुद्रा	80
45. अगोचरी मुद्रा	81
46. भूचरी मुद्रा	81

विषय	पृष्ठाङ्क
47. चाचरी मुद्रा	81
48. ज्ञान मुद्रा	81
49. विपरीतकरणी मुद्रा और उसका स्वरूप	81
50. वज्रोली मुद्रा और उसका स्वरूप	84
51. अमरोली मुद्रा और उसका स्वरूप	86
52. वज्रोली, सहजोली एवं अमरोली का उद्देश्य	89
53. शक्तिचालनी मुद्रा और उसका स्वरूप	92
54. मुद्रा और राजयोग	100
55. योग मुद्रा	102
56. भुजङ्गिनी मुद्रा	103
57. मातङ्गिनी मुद्रा	103
58. काकी मुद्रा	103
59. कुण्डलिनी	107
60. शाम्भवी मुद्रा	110
61. षण्मुखी मुद्रा	111
62. पराङ्मुखी मुद्रा	111
63. उन्मनी मुद्रा	111
64. माण्डूकी	111
65. नभोमुद्रा	112
66. वज्रोणि मुद्रा	112
67. पञ्चधारणा मुद्रा	112
68. नाथ पन्थ एवं अन्य शैव-शाक्त पन्थों में मुद्रा के प्रयोग	115
69. अष्टमुद्रायें और उनका स्वरूप	115
70. मन्त्रशास्त्रीय मुद्रायें	117
कार्यविशेष में प्रयोज्य मुद्रायें	**119-120**
विविध देवमुद्रायें	**121**
मुद्राओं के स्वरूप	**123-143**

यज्ञकृत्येषु चेच्छक्तौ हस्तौ मुद्रादिषु क्षमौ।
तदा मुद्रां विधायैव तत्तत्कृत्यं समाचरेत्॥

मुद्राविमुक्तहस्तेन क्रियते कर्म दैविकम्।
यदि तन्निष्फलं तस्मात्कर्म मुद्रान्वितश्चरेत्॥

यज्ञादि कृत्यों का मुद्राविरहित सम्पादन क्षम्य होते हुये भी समस्त यज्ञकृत्यों को मुद्रापूर्वक ही सम्पन्न करना उत्तम कहा गया है। मुद्रा से विमुक्त दैविक कृत्य सर्वथा निष्फल होते हैं; अत: समस्त दैविक कृत्य मुद्रासहित ही सम्पन्न किये जाने चाहिये।

(भास्कररायप्रणीत 'तृचभास्कर' से साभार)

मुद्रा : विज्ञान एवं साधना

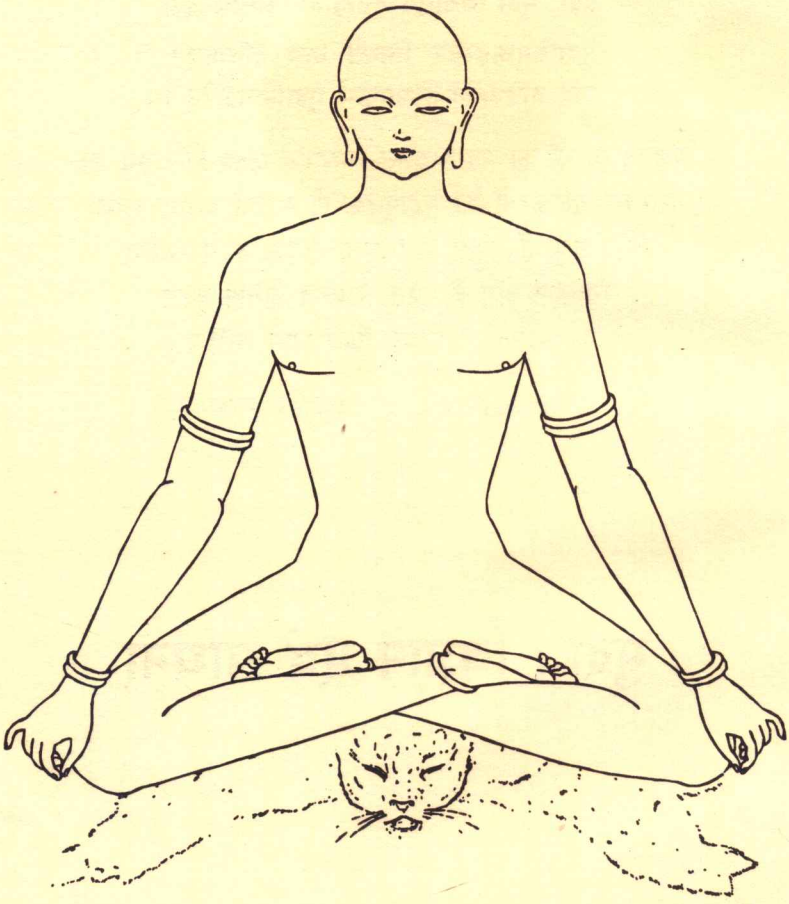

॥ श्रीः॥

मुद्रा : विज्ञान एवं साधना

मुद्राविज्ञान : एक परिचय

'मुद्रा' अपने यथार्थ स्वरूप में परसंवित्तत्त्व का ही साधनात्मक एवं योगात्मक स्वरूप है। 'देवीयामल' में कहा गया है कि मुद्रा साधक को स्वरूप-साक्षात्कारात्मक परम लाभ प्रदान करती है। 'मुद' (आनन्द = आनन्दस्वरूप आत्मा) को देने के कारण ही इसकी आख्या है— 'मुद्रा'। मुद्रा के दो स्वरूप हैं। इसे बाह्य एवं आन्तर दोनों अर्थों में गृहीत किया गया है। इसका आन्तर स्वरूप 'मालिनीविजयवार्त्तिक' में इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

कुलयोगिन उद्रिक्तभैरवीयरसासवात्।
घूर्णमानस्य यः कश्चित् कोऽप्युदेति यथा तथा।।
शरीरगः समावेशो मोदनद्रावणात्मकः।
सा स्वीकृतजगन्मुद्रा मुद्रा नैरुत्तरे मते।।

पाशुपत शास्त्र एवं पाञ्चरात्रागम आदि में तो बाह्य मुद्राओं को ग्रहण किया गया है; किन्तु रहस्य-प्रधान आगमों में मुद्राओं को रहस्यात्मक अर्थ में (शक्ति के अर्थ में) आन्तर मुद्रा के रूप में स्वीकार किया गया है। इस अर्थ में मुद्रा मात्र 'परसंवित्' है और 'शक्ति' है। संवित्तत्त्व प्राण के रूप में परिणत होकर देह में स्थित है।

इसी प्रकार संवित्तत्त्व मुद्रारूप में भी साधक में स्थित है। महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, उड्यान, मूलबन्ध आदि मुद्रायें अपने बाह्य स्वरूप में कुछ भी क्यों न हों; किन्तु उनका तात्त्विक स्वरूप आनन्दात्मक एवं शक्त्यात्मक है। नेत्रतन्त्र में यदि इसे 'शक्ति' का स्वरूप माना गया है तो महेश्वरानन्द ने इसे 'आनन्दोल्लासश्री' की दशा कहा है।

मुद्रा मन्त्रशास्त्र में अंगुलिसन्निवेशात्मक रूप में है तो योगशास्त्र में यह बन्धात्मक एवं योगसाधना की एक प्रविधि के रूप में स्वीकृत है।

एक शंका उठती है कि मुद्रा और बन्ध में वह कौन-सा वैशिष्ट्य है या उसमें ऐसे कौन-से व्यावर्तक चिह्न, भेदक लक्षण एवं सुनिश्चित भिन्नतायें हैं, जिससे कि उन्हें आसन से पृथक् रखा जाय? बन्ध एवं मुद्रा को आसन का ही रूप क्यों न माना जाय?

एक शंका यह भी उठती है कि जब षडंग, अष्टांग एवं सप्तांग योग में से किसी भी अंग में मुद्रा एवं बन्ध का उल्लेख न होने पर भी यह योग का प्रधान अंगभूत

साधन है तो इसका अन्तर्भाव यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि में से किसके भीतर किया जाय? स्पष्ट है कि इसे यम, नियम, प्राणायाम, धारणा, ध्यान एवं समाधि नामक अंगों में से किसी में भी अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता। फिर शेष बचता है— 'आसन' नामक योगांग। इसे आसन नामक योगांग में ही अन्तर्भूत क्यों न माना जाय?

एक शंका पुन: उठती है कि यदि मुद्राओं एवं बन्धों को योग के आसनांग में ही अन्तर्भूत मान लिया जाय तो इनको आसन से पृथक् 'मुद्रा' एवं 'बन्ध' नाम क्यों दिया? गया यदि ये आसन के ही भेद हैं तो इन्हें मुद्रा एवं बन्ध के रूप में पृथक् से निरूपित करके आसनों से पृथक् क्यों किया गया? वे कौन-से भेदक तत्त्व हैं, जो कि मुद्रा और बन्ध को आसनों से पृथक् करते हैं? यदि इन समस्त शंकाओं को व्यापक आयाम में रखकर और समस्त मुद्राओं एवं बन्धों तथा उनके समस्त भेदों-उपभेदों पर गम्भीरता से विचार किया जाय तो मुद्रा एवं बन्ध को निरस्त संशयात्मक स्वरूप में पारिभाषित करना कठिन है। इस परिभाषा को अतिव्याप्ति दोष से मुक्त रखकर मुद्राबन्ध के स्वरूप को निर्धारित करना एक कठिन प्रयत्न होगा।

अभिनवगुप्तपादाचार्य 'मुद्रा' पद की व्याख्या करते हुए कहते हैं—

'मुद्राश्च सकलकरचरणादिकरणव्यापारमय्य: क्रियाशक्तिरूपा, तत्कृतो गण: समूहात्मपरशक्त्येकरूप: स्वस्यात्मन: प्राणपुर्यष्टकशून्यादे: देहस्य आवेश:–झटिति परस्वरूपानुप्रवेशेन पारतन्त्र्यात्मकजडतातिरोधानेन स्वतन्त्रकर्तृतानुविद्धप्रमातृतोदय:।'

मुद्रा एक आवेश है। इस आवेश का लक्षण क्या है? इस विषय में कहा गया है—

कलोद्वलितमेतच्च चित्तत्वं कर्तृतामयम्।
अचिद्रूपस्य शून्यादेर्मितं गुणतया स्थितम्।।

मुख्यत्वं कर्तृतायाश्च बोधस्य च चिदात्मन:।
शून्यादौ तद्गुणे ज्ञानं तत्स्यादावेशलक्षणम्।।

परस्वरूपानुप्रवेश के द्वारा पारतन्त्र्यात्मक तथा जड़ता के तिरोधान होने के कारण स्वतन्त्रकर्तृता से अनुविद्ध प्रमातृता का उदय ही मुद्रा है।

मुद्रा और बन्ध में क्या भेद है तथा आसनों से इन्हें किस प्रकार शत-प्रतिशत रूप में पृथक् किया जाय? इसकी कोई लक्ष्मण रेखा खींचना सम्भव नहीं है।

[1]हठयोग-प्रदीपिका में कहा गया है कि ब्रह्मद्वार (सुषुम्ना के मुख के अग्रभाग) में सोती हुई ईश्वरी कुण्डलिनी को जगाने के लिए साधक को मुद्राओं का अभ्यास करना चाहिये—

१. **मुद्रा और बन्ध में भेद**— हठयोगप्रदीपिका में उड्डीयान, मूलबन्ध, जालन्धर को मुद्रा एवं बन्ध दोनों कहा गया है—

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्।
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत्।।[१]

यहीं दश मुद्राओं का उल्लेख किया गया है, जो निम्नांकित हैं—

१. महामुद्रा	६. मूलबन्ध
२. महाबन्ध	७. जालन्धर बन्ध
३. महावेध	८. विपरीतकरणी
४. खेचरी	९. वज्रोली
५. उड्यान	१०. शक्तिचालन

घेरण्डसंहिता के अनुसार महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयान, जालन्धर, मूलबन्ध, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, विपरीतकरणी, योनि, वज्राणी, शक्तिधारिणी, ताडागी, माण्डवी, शाम्भवी, धारणा मुद्रा (५ प्रकार की), अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातङ्गी एवं भुजङ्गिनी— ये २५ मुद्रायें हैं। शिवसंहिता में वे ही १० मुद्रायें हैं, जो हठयोग-प्रदीपिका में बताई गई हैं। अन्तर केवल यह है कि हठयोगप्रदीपिका में जिसे 'शक्ति-चालन' मुद्रा कहा गया है, उसे ही शिवसंहिता में ही 'शक्तिचालन' तथा घेरण्डसंहिता में 'शक्तिधारिणी' कहा गया है—

१. दशमं शक्तिचालनम् (शिवसंहिता)।
२. विपरीतकरी योनिर्वज्राणी शक्तिधारिणी (घेरण्डसंहिता)।
३. करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम् (हठयोगप्रदीपिका)।

यह भी मान्यता है कि मूलतः 'मुद्रा' एक ही है और वह मूल मुद्रा 'योनिमुद्रा' है। योनिमुद्रा के ही सर्वसंक्षोभिणी आदि मुद्रायें रूपान्तर हैं—

एका चैव महामुद्रा योनिमुद्रात्वमागता।
तया विभक्तः स्वात्मा तु संक्षोभादिप्रभेदतः।।

यह भी कहा गया है कि बाह्य पूजा में तो सर्वसंक्षोभिणी आदि मुद्राओं का प्रयोग किया जाना चाहिये; किन्तु आन्तर्यजन के समय महायोनि मुद्रा का प्रयोग किया जाना चाहिये। शिवानन्द दीपिका में कहते हैं— 'बाह्यपूजायां सर्वसंक्षोभिणीमुद्रायाः प्राथम्यमभिमतं परमेश्वरेण। अन्तर्यजनवेलायां श्रीमहायोनिमुद्रायाः प्राथम्यमिति।'

उड्यानं मूलबन्धश्च बन्धो जालन्धराभिधः।।

घेरण्डसंहिता में भी उड्डीयान, जालन्धर, मूल एवं महाबन्ध को 'बन्ध' एवं 'मुद्रा' दोनों आख्यायें प्रदान की गई हैं— 'उड्डीयानं जलन्धरम्। मूलबन्धो महाबन्धो।।

शिवसंहिता में भी महाबन्ध, जालन्धर बन्ध, मूलबन्ध, उड्डीयान बन्ध को 'बन्ध' भी कहा गया है और मुद्राओं के प्रकरण में इन्हें 'मुद्रा' भी कहा गया है।

क्या बन्ध भी मुद्रान्तर्गत हैं और उनका स्वस्वरूप मुद्रा से पृथक् नहीं है?

१. हठयोगप्रदीपिका : तृतीयोपदेश (३.५)

मुद्राओं के अभ्यास का उद्देश्य

हठयोगप्रदीपिका का मत— कुण्डलिनी का जागरण।

अन्य उद्देश्य या फल— १. जरा-मरण का नाश, २. दिव्य अष्ट सिद्धियों की प्राप्ति एवं ३. देवताओं की प्रसन्नता की प्राप्ति।

वैशिष्ट्य— आदिनाथोक्त हैं। समस्त सिद्धों को अति प्रिय हैं— 'वल्लभं सर्व-सिद्धानाम्'। देवताओं को भी दुर्लभ हैं। रत्न की मञ्जूषा की भाति गोपनीय हैं। कुलस्त्री-सम्भोग की वार्ता के समान ये अत्यन्त गोपनीय हैं—

इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शम्भुना।
एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी।।[१]

इन मुद्राओं में से प्रत्येक मुद्रा महान् सिद्धियाँ प्रदान करने की क्षमता रखती है।

स्वात्माराम मुनीन्द्र कहते हैं कि जो व्यक्ति मुद्राओं के अभ्यास का गुरुपरम्परा-प्राप्त उपदेश देता है, वही यथार्थ गुरु है। वही योगसिद्ध स्वामी है और साक्षात् ईश्वर है—

उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते साम्प्रदायिकम्।
स एव श्रीगुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः।।[२]

ऐसा मुद्रासाधक समाहित योगी अणिमादिक सिद्धियाँ प्राप्त करता है और काल-वञ्चन करने में समर्थ हो जाता है।

घेरण्ड ऋषि का मत— ऋषि घेरण्ड कहते हैं कि—

१. मुद्रा-स्वरूप के ज्ञान से सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

२. मुद्रायें अत्यन्त गोपनीय हैं; अतः जिस किसी भी व्यक्ति को नहीं दे देनी चाहिये; प्रत्युत अधिकारी व्यक्ति को ही दी जानी चाहिये।

३. मुद्रायें प्रीतिप्रदायक एवं देव-दुर्लभ हैं—

(क) येन विज्ञातमात्रेण सर्वसिद्धिः प्रजायते।
(ख) गोपनीयं प्रयत्नेन न देयं यस्य कस्यचित्।।
(ग) प्रीतिदं योगिनां चैव दुर्लभं मरुतामपि।।

४. मुद्रायें सर्वसिद्धों को अति प्रिय हैं और जरा-मरण की नाशिका हैं।

५. ये शठ, भक्तिहीन, अनधिकारी व्यक्ति को नहीं दी जानी चाहिये; बल्कि ऋजु स्वभाव वाले, शान्त चित्त वाले, गुरुभक्त एवं कुलीन लोगों को ही प्रदातव्य हैं।

६. मुद्रायें समस्त रोगों का विनाश करती हैं। नित्याभ्यासी की जठराग्नि अत्यधिक तीव्र हो जाती है।

---

१. हठयोगप्रदीपिका। २. हठयोगप्रदीपिका।

७. मुद्रा साधकों के वार्धक्य, मृत्यु, अग्नि, वायु, कास, श्वास, प्लीहा, कुष्ठ, श्लेष्मा एवं बीस प्रकार के कफ रोगों को नष्ट कर देता है—

(क) तस्य नो जायते मृत्युर्नास्य जरादिकं तथा।
नाग्निजलभयं तस्य वायोरपि कुतो भयम्।।

(ख) कासः श्वासः प्लीहकुष्ठं श्लेष्मरोगाश्च विंशतिः।
मुद्राणां साधनाच्चैव विनश्यन्ति न संशयः।।

वस्तुतः मुद्रा के समान महत्त्वपूर्ण, उपादेय एवं सिद्धियाँ प्रदान करने वाली दूसरी कोई साधना ही नहीं है—

बहुना किमिहोक्तेन सारं वच्मि च चण्ड ते।
नास्ति मुद्रासमं किञ्चित् सिद्धिदं क्षितिमण्डले।।[१]

शिवसंहिताकार का मत— शिवसंहिता में मुद्रा के विषय में निम्न उल्लेख्य बिन्दुओं को चिह्नित किया गया है—

१. मुद्रायें योगसिद्धिकर (योग सिद्धि-प्रदायिका) हैं।

२. मुद्रायें गोपनीय हैं।

३. यह सिद्धों का परम योग है और दुर्लभ योग है— 'योगसिद्धिकरं परम्'।।

गोपनीयं सुसिद्धानां योगं परमदुर्लभम्।।

कुण्डलिनी शक्ति ब्रह्मरन्ध्र के मुख में सोई रहती है। गुरुकृपा से जब भी वह जागृत होती है तब षट्चक्रों में स्थित समस्त ग्रन्थियों का भेदन कर डालती है; अतः ब्रह्मद्वार-रूप मुख में सोती हुई कुण्डलिनी को जागृत करने हेतु मुद्रा का अभ्यास करना चाहिये—

अधुना कथयिष्यामि योगसिद्धिकरं परम्।
गोपनीयं सुसिद्धानां योगं परमदुर्लभम्।।

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च।।

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्।
ब्रह्मरन्ध्रमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत्।।

४. (शिवसंहिता में प्रोक्त) १० मुद्रायें ही श्रेष्ठ हैं। इनमें श्रेष्ठ और कोई मुद्रायें हैं भी नहीं तथा होगी भी नहीं। इनमें से एक का भी अभ्यास कर लेने पर सिद्धि प्राप्त हो जाती है—

एतत्तु मुद्रा दशकं न भूतं न भविष्यति।
एकैकाभ्यसने सिद्धिः सिद्धो भवति नान्यथा।।

---

१. घेरण्डसंहिता उपदेश (३.९५)

महेश्वरानन्द की मुद्राविषयक दृष्टि— आचार्य महेश्वरानन्द ने मुद्रा के स्वरूप का तात्त्विक विवेचन किया है। उनके अनुसार प्रकाशस्वरूप परमात्मा की पूजा के लिए अंगन्यास आदि के साथ किसी विशेष बाह्य मुद्रा की आवश्यकता नहीं होती।

जिस अवस्था में समस्त योग-प्रचलित अष्ट महासिद्धियों के सौभाग्य को तिरस्कृत कर देने वाले ऐश्वर्यरूप परमात्मविमर्श के आनन्दोत्कर्ष की श्री— परमाह्लादिनी शक्ति अभिव्यक्त या स्वानुभूतिमयी प्रकाशित होती है, वही परमात्मा की नमस्या (पूजा) मुद्रा है—

आणन्दुल्लाससिरी धुल्लइदट्ठमहसिद्धि सोहग्गा।
दीसइ जत्थ दसाए सोच्चिअ देवस्स सव्वमुद्दाओ।।

(आनन्दोल्लासश्रीः छुल्लिकताष्टमहासिद्धिसौभाग्या।
दृश्यते यत्र दशायां सैव देवस्य सर्वमुद्राः।।)

स्वोपज्ञ परिमल में महेश्वरानन्द इसी बात को शब्दान्तर में इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

'यस्यामवस्थायां देवस्य क्रीडाविजिगीषाद्यनेकप्रकारस्वातन्त्र्यसारत्वात् पूज्यपूजकत्वोभयस्वभावसामरस्यशालिनः परमेश्वरस्य स्वविश्रान्तिलक्षणमानन्दं प्रति य उल्लासः तथा परामृश्यमानतया स्फुरत्ता, तस्याः श्रीः तद्वदुपर्युपर्यनुस्यूतिलक्षणा प्ररूढिर्दृश्यते, निर्विवादमपरोक्षीक्रियते, सैव सर्वाः करङ्किण्यादयः संक्षोभिण्यादयोऽन्यथा वा प्रसिद्धास्तास्ताः, मुद्रा इत्यवगन्तव्यम्।'

इस परिभाषा के भावान्तर को इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है— 'करचरणाद्याकुञ्चनावकुञ्चनादिसङ्कोचोल्लङ्घनेन निस्तरङ्गसमुद्रावस्थानस्थानीया तत एव स्वान्तर्विलीनफेनबुद्बुदबिन्द्वादिप्रायाऽशेषबाह्यानन्दपरिस्पन्दा स्वविश्रान्तिचमत्काराऽपरपर्यायपरामर्शक्रियारूपा काचिदलौकिकानुभूतिरानन्दसम्पद् मुदं रातीति व्युत्पत्त्या करङ्किण्याद्यन्यमुद्राप्रपञ्चोदयविलयभूमिर्मुद्रात्वेनानुसन्धेयेति।' कहा भी गया है—

सा सिद्धिः सर्वसिद्धीनां सिद्धित्वे परिकीर्तिता।
ज्ञानं ह्यकलितं चैकं मुद्रा चैका ग्रहात्मिका।
द्वावेतौ यस्य जायेते सोऽन्वयी सिद्धिशासने।।

इस तत्त्वात्मिका (सिद्धिस्वरूपा) मुद्रा में अष्टसिद्धियों का पारम्परिक अर्थ भी स्वीकृत नहीं है।

महार्थमञ्जरी एवं परिमल की मुद्राविषयक दृष्टि और अष्ट सिद्धियों का अर्थ	**अष्ट सिद्धियों का पारम्परिक अर्थ**
१. अणिमा— परमेश्वर की पूजा के हेतु सर्वमुद्रा में आनन्दोल्लासश्री में प्रकाशरूप से सर्वपदार्थान्तर्भाव की सामर्थ्य ही 'अणिमा' है।	**१. अणिमा**— शरीर को अणुवत् सूक्ष्मतर कर लेने की सिद्धि ही 'अणिमा' सिद्धि है।

२. **महिमा**— उसी प्रकार व्यापकता का सञ्चार ही 'महिमा' है।	२. **महिमा**— गगनादि में व्यापक हो जाना ही 'महिमा' सिद्धि है।
३. **लघिमा**— भेदों के प्रति साधक का औदासीन्य (उपेक्षा) ही 'लघिमा' है।	३. **लघिमा**— समुद्रादि जलसमूह को विना स्पर्श किये हुये पार कर जाना ही 'लघिमा' सिद्धि है।
४. **प्राप्ति**— स्वात्मविश्रान्ति ही 'प्राप्ति' है।	४. **प्राप्ति**— यथाकाम, यथाभीष्ट वस्तु को पा जाना ही 'प्राप्ति' सिद्धि है।
५. **प्राकाम्य**— वेद्यविलास में अभिरुचि या प्रीति 'प्राकाम्य' है।	५. **प्राकाम्य**— संकल्पमात्र से सर्वत्र अप्रतिहत गति से गमन करने की शक्ति ही 'प्राकाम्य' सिद्धि है।
६. **ईशित्व**— सम्पूर्ण प्रमुसत्ता ही 'ईशित्व' है।	६. **ईशित्व**— सार्वत्रिक प्रभुत्व (ऐश्वर्य) से युक्त होना ही 'ईशित्व' सिद्धि है।
७. **वशित्व**— विमर्शरूप भूमि ही 'वशित्व' है।	७. **वशित्व**— इन्द्रियार्थोपभोगार्थ स्वेच्छाभासाधीन हानोपादान भोगेच्छा से निवृत्तिपरक निष्कामता ही 'वशित्व' सिद्धि है।
८. **कामावसायित्व**— पूर्णाहम्भाव की भावना ही कामावसायित्व है। वे सब अद्वैत सर्वव्यापक परमात्मा की पूजा में स्वात्म-विमर्शरूप 'मुद्रा' में ही अधिगृहीत हो उठते हैं। परमेश्वर की स्वात्मविमर्शस्वरूपिणी 'शक्ति' ही सर्वमुद्रामयी है।[१]	८. **कामावसायित्व**— स्वाभिलाषा से ही स्वर्गनरकादि की अनुभूति में आनन्दोल्लासश्री में प्रकाशरूप से सर्वपदार्थान्तर्भाव का सामर्थ्य प्राप्त कर लेना ही 'कामावसायित्व' सिद्धि है ।

इस पूजात्मक मुद्रा में ध्यान, होम, हव्य, वह्नि, स्रुवा आदि का भी अभिधेय अर्थ स्वीकृत नहीं है; प्रत्युत रहस्यार्थ (प्रतीकार्थ) स्वीकृत है; यथा—

१. ध्यान— ध्यानं या निश्चला चिन्ता निराकारा निराश्रया।
न तु ध्यानं शरीरादिमुखहस्तादिकल्पनम्।।

२. हवन— महाशून्यालये वह्नौ भूताक्षविषयादिकम्।
हूयते मनसा सार्धं स होमश्चेतना स्रुचा।।

३. अग्नि और हव्य— पराहन्तामये संविदग्नौ संवेद्यतर्पणे।
इयन्तालक्षणं हव्यं जुहुयादबहिर्मुखः।।

---

१. तत्र च ताः सिद्धयो यदा प्रकाशरूपतया सर्वपदार्थान्तर्भावसामर्थ्यमणिमा। तथैव व्यापकत्वं महिमा। भेदरूपगौरवव्युदासो लघिमा। स्वात्मविश्रान्तिलाभः प्राप्तिः। वेद्यविलासोपलालनं प्राकाम्यम्। अनवच्छिन्नैश्वर्यशालित्वमीशितृत्वम्। विप्रष्टृतया सर्वंसहता वशित्वम्। पूर्णाहम्भावभावना यत्र कामावसायित्वमिति संविन्मयत्वौचित्येन परामृश्यते तदानीमस्मदुक्तमुद्रापर्वानुप्रवेश इति न किञ्चिदासां क्षुल्लकीकरणम्, प्रयोजनाभावात्। (स्वोपज्ञ परिमल)

४. हव्य— अथ हव्यमिदन्ताख्यं हावं हावं स्वचिन्मुखे।
उल्लङ्घ्य मायामालिन्यं स्वैरमासीत मेरुवत्।।

महेश्वरानन्द कहते हैं कि उक्त पूजात्मक मुद्रा में ध्यानादि अंगों के प्रतीकार्थों– रहस्यार्थों के सहित पूजा-द्रव्यों को भी सम्मिलित मानना चाहिये, उनकी भी कल्पना कर लेनी चाहिये—

'मन्त्रमुद्राविद् ध्यानहोमादयोऽपि साधकव्यापाराः संविदद्वैतानुगुण्येन स्वयमूहनीयाः।'[१]

हमारे व्यावहारिक लोक में तो खड्ग-गोरोचनपातालप्रभृति विभूति के स्पन्द ही सिद्धियाँ मानी जाती हैं। उनकी अपेक्षा तो अणिमा-महिमा-लघिमा-प्राप्ति-प्राकाम्य-ईशित्व-वशित्व-कामावसायित्व आदि अष्ट सिद्धियाँ महत्तर सिद्धियाँ हैं; किन्तु मुद्रा में इन अष्टसिद्धियों के अर्थ को और अधिक वृहत्तर आयाम में स्वीकार किया जाता है और उनमें गुप्त रहस्यार्थों को ही स्वीकार किया जाता है।[२]

लोक में तो अष्टसिद्धियों का निम्न अर्थ ही ज्ञात है—

१. स्वशरीरं प्रत्यणूकरणसामर्थ्यमणिमा।
२. गगनादिव्यापकत्वकौशलं महिमा।
३. समुद्रसलिलादावपि पद्भ्यां प्रयाणे तदस्पर्शो लघिमा।
४. यथाभिलषितपदार्थलाभः प्राप्तिः।
५. सङ्कल्पमात्रात् सर्वत्राप्रतिहतगतित्वं प्राकाम्यम्।
६. सार्वत्रिकं प्रभुत्वमीशितृत्वम्।
७. इन्द्रियार्थोपभोगे स्वेच्छामात्राधीनहानोपादानत्वं वशित्वम्।
८. स्वाभिलाषमात्रात्सद्यः स्वर्गनरकाद्यनुभूतिर्यत्र कामावसायित्वमिति विवेकः।[३]

किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में मुद्रा के अंगीभूत इन अष्टैश्वर्यों— अष्टसिद्धियों के अर्थ रहस्यात्मक हैं और वे ही स्वीकृत हैं। इन रहस्यार्थों एवं प्रतीकार्थों से गर्भित अष्टसिद्धियों से युक्त मुद्रा ही यहाँ 'मुद्रा' मानी गई है। सामान्य अर्थ में गृहीत (आंगिक हाव-भाव प्रदर्शित करने वाली) मुद्रा यहाँ स्वीकृत नहीं है।[४]

जहाँ आनन्दोल्लासश्री का दर्शन होता है, उस दशा को ही तो देवता की 'मुद्रा' माना जाता है; क्योंकि 'मुदं राति ददाति इति मुद्रा'; फिर यह आनन्दोल्लास कितने आनन्दों से गर्भित है? यह परानन्द, निरानन्द, महानन्द, आनन्द, विषयानन्द एवं स्वभावाशेषानन्द के सामरस्य को उन्मीलित करने वाला आनन्दश्री नाम से विख्यात है।[५]

---

१. महेश्वरानन्द : स्वोपज्ञ परिमल।
२. स्वोपज्ञ परिमल।
३. परिमल (महेश्वरानन्द)।
४. स्वोपज्ञ परिमल।
५. स्वोपज्ञ परिमल।

स्वच्छन्दतन्त्र एवं नेत्रतन्त्र का मत— स्वच्छन्दतन्त्र में मुद्रा को क्रियाशक्ति कहा गया है। नेत्रतन्त्र में आत्मस्वरूप की अभिव्यक्ति के तीन साधन कहे गये हैं और उनमें मुद्रा भी एक है। तीन साधन निम्नांकित हैं—

आत्मस्वरूपाभिव्यक्ति के साधन (नेत्रतन्त्र)

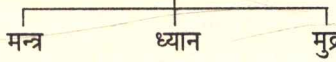

ऋजुविमर्शिनी में भी मुद्रा को क्रियाशक्ति कहा गया है।

शिवानन्द का मत— शिवानन्द कहते हैं कि मुद्रा केवल आंगिक प्रदर्शन या अंगों का विशिष्ट सन्निवेश-मात्र नहीं है; प्रत्युत यह शक्ति का स्वरूपान्तर है— 'मुद्रा नाम कश्चन शक्तयः।'[१] इसीलिए कहा गया है—

मोचयन्ति ग्रहादिभ्यः पाशौघं द्रावयन्ति च।
मोचनं द्रावणं यस्मान्मुद्रास्ताः शक्तयो मताः।।

अंगुलिसन्निवेशात्मक बाह्य मुद्राओं का तो समस्त तन्त्रों में वर्णन किया गया है; किन्तु योग में बन्धरूप एवं संस्थान-विशेषानुसरणरूप मुद्राओं का वर्णन हठयोग के ग्रन्थों में पाया जाता है। अद्वयप्रधान तन्त्रों में मुद्रा परसंवित् के रूप में मान्य है। योगिनीहृदय (१.५७) में भी मुद्रा को संविद्रूपा ही स्वीकार किया गया है।

नित्याषोडशिकार्णव-मत— नित्याषोडशिकार्णव के तृतीय पटल में कहा गया है कि मुद्रा वह योग-साधना है, जो कि समस्त सिद्धियाँ प्रदान करती है तथा जिसे निर्मित करने पर (दिखाने या प्रयोग में लाने पर) भगवती त्रिपुरा प्रसन्न होकर साधक के समक्ष उपस्थित हो जाती हैं—

शृणु देवि! प्रवक्ष्यामि मुद्राः सर्वार्थसद्धिदाः।
याभिर्विरचिताभिस्तु सम्मुखा त्रिपुरा भवेत्।।

मुद्रा के कार्य

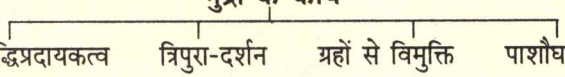

(क) मोचयन्ति ग्रहादिभ्यः पाशौघं द्रावयन्ति च।
मोचनं द्रावणं यस्मान्मुद्रास्ताः शक्तयो मताः।।

(ख) द्रावणात् पाशजालस्य तत्परस्य च मोचनात्।
मुद्रापीठमिति प्रोक्तं कामरूपं नमाम्यहम्।। (सङ्केतपद्धति)[२]

तन्त्रालोक का मत— अभिनवगुप्तपादाचार्य कहते हैं कि मुद्रा स्वरूपलाभ का

---

१. ऋजुविमर्शिनी। २. ऋजुविमर्शिनी।

साधन है। देहद्वार से मुद अर्थात् स्व-स्वरूपात्मक उपलब्धि होती है; इसीलिए इसे मुद्रा कहा जाता है—

मुदं स्वरूपलाभाख्यं देहद्वारेण चात्मनाम्।
रात्यर्पयति यत्तेन मुद्रा शास्त्रेषु वर्णिता।।

योगिनीहृदय का मत— योगिनीहृदय के मतानुसार संविदम्बिका क्रियाशक्ति के रूप में विश्व का मोदन एवं द्रावण करती हुई मुद्रा के रूप में विद्यमान है—

क्रियाशक्तिस्तु विश्वस्य मोदनाद् द्रावणात्तथा।
मुद्राख्या सा यदा संविदम्बिका त्रिकलामयी।।[१]

अमृतानन्द कहते हैं कि जब विमर्श शक्ति विश्व के रूप में प्रसृत होना चाहती है तब क्रियाशक्ति बनकर स्वविकारभूत विश्व का परचिदानन्दलक्षणरूप मोदन द्वारा एवं एकरसीभावलक्षणात्मक द्रावण के द्वारा 'मुद्रा' रूप ग्रहण कर लेती है—

'यदा विमर्शशक्तिः विश्वरूपेण विहर्तुमिच्छति तदा क्रियाशक्तिर्भूत्वा स्वविकारभूतस्य विश्वस्य परचिदानन्दलक्षणेन मोदनेन तदैकरस्यलक्षणेन द्रावणेन च मुद्राख्यामापन्नेत्यर्थः।'[२]

'विश्वस्य मोदनाद् द्रावणाच्च। अत्र त्वनुकूलक्रियैव मोदनम्। द्रावणं नाम तदेकरसीभावः। संविद् मुद्राख्यां लभते।'[३]

मुद्रा के भेद

अभिनवगुप्तपाद की दृष्टि में मुद्रा में स्वरूपप्रतिबिम्बता निहित है। विद्यानन्द ने अर्थ-रत्नावली में मुद्रा के जो दो भेद बताये हैं; वे हैं— बाह्या (कररचनात्मक) बन्धस्वरूपा।

शिवानन्द जी ने खेचरी मुद्रा के ३ भेद किये हैं— अंगुलिविरचनात्मक, बोधगगन-चारिता एवं संस्थानविशेषानुसरणरूपा।

आचार्य क्षेमराज ने स्वच्छन्दतन्त्र (२.१०२) के आधार पर समस्त मुद्राओं के तीन भेद किये हैं; जो निम्नांकित हैं—

मनोजा गुरुवक्त्रस्था वाग्भवा मन्त्रसम्भवा।
देहोद्भवाङ्गविक्षेपैर्मुद्रेयं त्रिविधा स्मृता।।

अभिनवगुप्तपादाचार्य ने मुद्रा के चार भेद बताये हैं— तन्त्रालोक (३२.९) में प्रतिपादित उस दृष्टि की व्याख्या करते हुए जयरथ कहते हैं—

अङ्गुलिन्यासभेदेन करजा बहुमार्गगा।
सर्वावस्थास्वेकरूपा वृत्तिर्मुदा च कायिकी।।

मन्त्रतन्मयता मुद्रा विलापाख्या प्रकीर्तिता।
ध्येयतन्मयता मुद्रा मानसी परिकीर्तिता।।

---

१. योगिनीहृदय (चक्रसङ्केत)।　　२. दीपिका।　　३. अमृतानन्द : दीपिका।

अभिनवगुप्तपाद ने तन्त्रालोक (मुद्राह्निक: ३२.५-६) में खेचरी मुद्रा के भी अनेक भेद बताये हैं और करङ्किणी, क्रोधना, भैरवी एवं लेलिहानिका का नामोल्लेख किया है।

१. करङ्किणी = ज्ञानसिद्धों की मुद्रा।
२. क्रोधिनी = मन्त्रसिद्धों की मुद्रा।
३. भैरवी = मेलापसिद्धों की मुद्रा।
४. लेलिहाना = शाक्तसिद्धों की मुद्रा।

→ **मुद्राचतुष्टय**

कायिकी मुद्रा पाशुपतों में प्रचलित है (जयरथ)।

यामुनाचार्यवर्णित मुद्राषट्क (आगमप्रामाण्य)—

१. कर्णिका	३. कुण्डल	५. भस्म
२. रुचक	४. शिखामणि	६. यज्ञोपवीत

कपालमुद्रा, खट्वांग मुद्रा (पाशुपतीय उपमुद्रा)।

पाञ्चरात्र एवं पाशुपत आदि मतों में बाह्य मुद्राओं का प्रतिपादन किया गया है; जबकि अद्वयप्रधान तन्त्रों में सब कुछ आत्मस्वरूप होने के कारण मुद्रा भी परसंवित्तिरूपा है ।

कौलावलीनिर्णय और मुद्राविधान— शाक्तों की साधना का सविध एवं शास्त्रोक्त विधान करने वाला एवं अतिप्रिय तन्त्रग्रन्थ 'कौलावलीनिर्णय' मुद्रा-प्रदर्शन एवं मुद्रा-साधना को साधना-क्षेत्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं अपरिहार्यत: आवश्यक नित्य कृत्य के रूप में प्रस्तुत करता है। इसमें कहा गया है कि शाक्त साधक को—

१. ब्राह्ममुहूर्त में निद्रा एवं आलस्य का त्याग करके सूर्य के तेज एवं चन्द्रमण्डल से मण्डित सहस्रदल कमल में रजतपर्वत के समान श्वेत, वीरासनस्थित, शुक्लाभूषण-विभूषित, शुक्लाम्बरधारी, शक्तिसमन्वित श्रीगुरुदेव का नित्य ध्यान करते हुए प्रतीकात्मक उपचारों (यथा— भूम्यात्मक गन्ध, भावात्मक पुष्प, वाय्वात्मक धूप, तेजसात्मक दीप, अमृतात्मक नैवेद्य, वरुणात्मक जल, आकाशात्मक मुकुट आदि) से पूजा करके योनिमुद्रा प्रदर्शित करनी चाहिये।

२. संविदा-ग्रहण (जपारम्भ के पूर्व का कृत्य) के समय सात बार मूलमन्त्र का जप करके आवाहनादि मुद्राओं तथा धेनुमुद्रा दिखाकर तीन बार छोटिका मुद्रा से दिग्बन्धन करके फिर गुरु-तर्पणोपरान्त तत्त्वमुद्रा द्वारा परिवारसहित देवी का हृदय में तर्पण करते हुये अग्रिम कृत्यों का निष्पादन करना चाहिये।

३. पूजारम्भ के समय पुष्प सूंघकर नाराच मुद्रा से इसे ईशान कोण में फेंक देना चाहिये।[१]

---

१. कौलावलीनिर्णय

नाराच मुद्रा का स्वरूप— दाहिने हाथ की तर्जनी को अंगूठे के आगे लाकर ऊर्ध्व रेखा से मिलाते हुये शेष उँगलियों को ऊपर उठाना ही नाराच मुद्रा है।

४. साधक को चाहिये कि मद्यशोधन-क्रियान्तर्गत पञ्चसंज्ञक मुद्राओं द्वारा इष्ट-देवता को भक्तिपूर्वक प्रणाम करे।

(क) चतुरस्त्रिका मुद्रा— दोनों हाथों की हथेलियों को भूमि पर अधोमुख उंगलियों को सीधी करके रखना चाहिये। यही चतुरस्त्रिका मुद्रा है।

(ख) सम्पुट मुद्रा— दोनों हथेलियों (पाणितन्त्रों) को एक-दूसरे के अभिमुख सम्पुटाकार मिलाने को सम्पुट मुद्रा कहते हैं।

(ग) योनिमुद्रा— दोनों कनिष्ठिकाओं के मूल में दोनों अंगुष्ठों को रखकर, फिर दोनों तर्जनियों के ऊपर दोनों मध्यभागों को और दोनों अनामिकाओं एवं कनिष्ठिकाओं को अंगुष्ठ से दबाकर रखने को योनिमुद्रा कहते हैं।

(घ) सम्पुटाञ्जलि मुद्रा— सम्पुट मुद्रा बनाकर उसी में दोनों कनिष्ठिकाओं के मूल में दोनों अंगूठों को लगा देने को सम्पुटाञ्जलि मुद्रा कहते हैं।[१]

(क) 'ह्रां नमः' कहकर चतुरस्त्रिका मुद्रा,
(ख) 'ह्रीं नमः' कहकर संवृत्त मुद्रा,
(ग) 'क्लीं नमः' कहकर सम्पुट मुद्रा,
(घ) 'प्लुं नमः' कहकर सम्पुटाञ्जलि मुद्रा,
(ङ) 'सः नमः' कहकर योनि-मुद्रा प्रदर्शित करनी चाहिये।

साधक को द्रव्यशोधन की क्रिया के अन्तर्गत आनन्दभैरवी का पूजन करके 'वं' का जप करके द्रव्य को अमृत मानकर फिर, आवाहिनी, स्थापिनी, सन्निधापिनी, सन्निरोधिनी, अवगुण्ठन, षंडग की मुद्रायें तथा छोटिका मुद्रा द्वारा दिग्बन्धन करके, परमीकरण करके धेनुमुद्रा से अमृतीकरण करना चाहिये।

मुद्राशोधन— सुपक्व, मनोहर, शर्करादि से पूरित मुद्रायें भी देवी की पूजा में स्वीकृत हैं। भुने हुए धान्य भी मुद्रा के रूप में स्वीकृत हैं। मुद्राओं के शोधन का मन्त्र निम्नांकित है—

ॐ तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुराततम् ॐ तद्विप्रासो विपण्यवो जागृवांसः समिन्धते विष्णोर्यत् परमं पदम्।

मुद्रायें दिखाकर मूल मन्त्र का जप करना चाहिये।[२]

शंखमुद्रा— दाहिने हाथ से वाम कर के अंगूठे को पकड़कर फिर मुट्ठी एवं अंगूठे

---

१. कौलावलीनिर्णय। २. कौलावलीनिर्णय।

को उत्तान करके फैलाना चाहिये; साथ ही वामवर्ती हाथ की शेष उँगलियाँ उसी प्रकार संयुक्त रूप में फैली रहें एवं दाहिने अंगूठे से लगी रहें। इसे ही शंखमुद्रा कहते हैं।

मत्स्य मुद्रा— दाहिना हाथ अधोमुख रहे और वाम पाणि भी; तथापि एक-दूसरे के ऊपर सभी उँगलियाँ मिली हुई और सीधी रहें। अंगूठों को किञ्चित् चलाये। इसे ही मत्स्य मुद्रा कहते हैं।

आवाहनी मुद्रा— दोनों हाथों की ऊर्ध्वमुख अञ्जलियों को अधोमुख करने से आवाहनी मुद्रा बनती है।

स्थापिनी मुद्रा— आवाहनी मुद्रा को ऊर्ध्वमुख करने पर स्थापिनी मुद्रा बनती है।

सन्निधापिनी मुद्रा— दोनों हाथ की बँधी हुई मुट्ठियों को मिलित रूप से रखने पर सन्निधापिनी मुद्रा बनती है।[१]

सन्निरोधिनी मुद्रा— मुट्ठियों के भीतर अंगूठों को दबाकर उन्हें अधोमुख करने पर सन्निरोधिनी मुद्रा बनती है।

अवगुण्ठन मुद्रा— सन्निरोधिनी मुद्रा में यदि तर्जनी सीधी कर दी जाय तो अवगुण्ठन मुद्रा बनती है।

परमीकरण महामुद्रा— परस्पर दोनों हाथों के अंगूठों को ग्रथित करके शेष अंगुलियों को सीधी फैला देने को महामुद्रा या परमीकरण कहते हैं।

धेनुमुद्रा— दोनों हाथों की उंगलियों को नीचे की ओर करके दोनों मध्यमाओं, दोनों तर्जनियों तथा दोनों अनामिकाओं को दोनों कनिष्ठाओं से संयुक्त करे तो धेनुमुद्रा बनती है।

नियमानुसार स्वकल्पोक्त विधि से साधकों को मुद्रायें प्रदर्शित करके छोटिका मुद्रा द्वारा तीन साल से दिग्बन्धन करके प्राणप्रतिष्ठा के मन्त्र से लेलिहान मुद्रा के द्वारा यन्त्र पर हाथ रखकर या पाँच कुशों द्वारा प्राणप्रतिष्ठा करनी चाहिए।[२]

लेलिहान मुद्रा— दाहिने हाथ की तर्जनी, मध्यमा एवं अनामिका को सीधी करके अधोमुख करे और अनामिका के ऊपर अंगुष्ठ को रखे तथा कनिष्ठा को सीधी फैला दे तो लेलिहान मुद्रा बनती है।

ज्ञानमुद्रा से परमेश्वरी का पूजन करना चाहिये।

ज्ञानमुद्रा— अंगुष्ठ एवं तर्जनी के संयोग से अर्थात् तर्जनी को अंगुष्ठ के मूल में लगाने से (अंगुष्ठ एवं तर्जनी के संयोग द्वारा) जो (अंगुष्ठ की जड़ में) गोलाकार रचना बनती है, उससे युक्त ऊर्ध्वोन्मुख अंगुष्ठ की रचना ज्ञानमुद्रा कहलाती है।[३]

१. कौलावलीनिर्णय। २. कौलावलीनिर्णय। ३. कौलावलीनिर्णय।

महादेवी की नीराजना करने के अनन्तर साधकों को चाहिए कि वे देवता को चक्रमुद्रा दिखायें।

बायें हाथ की वृद्धा अंगुली के गर्भ में कनिष्ठा एवं दक्षिणवर्ती हाथ की कनिष्ठा के गर्भ में जोड़कर फिर वाम एवं दक्षिण अंगुष्ठों का संयोग करने से चक्रमुद्रा बनती है।

साधक को चाहिये कि वह इष्टदेवी को दुग्ध, दधि, पायस, मोदक, चर्व्य, चोष्य, लेह्य, पेय, भक्ष्य एवं भोज्य आदि पदार्थ समर्पित करके तथा चुल्लूक देकर प्राणमुद्रा का प्रदर्शन करे।[१]

प्राणमुद्रा— वृद्धा, अनामा और कनिष्ठा के संयोग से प्राणमुद्रा बनती है।
अपान मुद्रा— वृद्धा, मध्यमा एवं तर्जनी से अपान मुद्रा बनती है।
व्यान मुद्रा— वृद्धा, अनामा और मध्यमा से व्यान मुद्रा बनती है।
उदान मुद्रा— कनिष्ठा से रहित समस्त अंगुलियों से उदान मुद्रा बनती है।
समान मुद्रा— सम्पूर्ण अंगुलियों के संयोग से समान मुद्रा बनती है।

प्राणाय स्वाहा, अपानाय स्वाहा, व्यानाय स्वाहा, उदानाय स्वाहा, समानाय स्वाहा कहकर मुद्राओं का प्रदर्शन करना चाहिये।

यह भी शास्त्र-विधान है कि अग्नि में देवी को समाविष्ट समझकर संहारमुद्रा द्वारा 'देवीं अग्नये स्वाहा' मन्त्र से तीन आहुतियाँ प्रदान करनी चाहिये। इसी प्रकार गणदेवताओं को संहारमुद्रा से लाकर उनका पूजन करना चाहिये।

कुम्भमुद्रा लगाकर सुगन्धित जल को लेकर मूलमन्त्रपूर्वक 'अमुकं देवतां अभिषिञ्चामि' कहने के अन्त में हृदय मन्त्र लगाकर अपने सिर में समन्त्र की भावना करनी चाहिये।

साधना में योनिमुद्रा का सर्वातिशायी महत्त्व है। सृष्टि चार प्रकार की है। यह जिसकी योनि से उत्पन्न होती है, उसी में लय हो जाती है। यही योनिमुद्रा है। इसके बन्धन से सभी मन्त्र सिद्ध हो जाते हैं।[२]

'शाक्तानन्दतरङ्गिणी' के अनुसार वामांगुष्ठ एवं अनामिका को युक्त करके जिस तत्त्वमुद्रा की रचना होती है, उसके द्वारा देवता के मुख में मूल मन्त्र से तीन बार तर्पण करना चाहिये। इससे द्रव्य अमृत के तुल्य हो जाता है।

मुद्रा-प्रदर्शन के साथ-साथ शरीरांग भी निर्धारित हैं; यथा—

गोरक्षनाथोपदिष्ट अष्ट मुद्रायें

गोरक्षनाथ जी ने अपनी 'अष्टमुद्रा' नामक पुस्तक में आठ मुद्राओं का उल्लेख किया है, जो निम्नांकित हैं—

१. कौलावलीनिर्णय। २. कौलावलीनिर्णय।

१. मूलनी ३. खीरनी ५. भूचरी ७. अगोचरी
२. जलश्री ४. खेचरी ६. चाचरी ८. उनमनी

मुद्राओं का स्वरूप—

१. मूलनी मुद्रा— अवधी यंद्रीमध्ये मूलनी मुद्रा।
काम तृष्णा ले उतपनीं काम।।

२. जलश्री मुद्रा— कामतृष्णासमो कृत्वा मुद्रा तौ भई मूलनी।
नाभी मधे जलश्री मुद्रा काल क्रोध ले उतपनी।।

३. खीरनी मुद्रा— काल क्रोध समो कृतवा मुद्रा तौ भई जलश्री।
हृदा मध्ये खीरनी मुद्रा ज्ञान दीप ले उतपनी।।

४. खेचरी मुद्रा— ज्ञानदीप समो कृतवा मुद्रा तौ भई खीरनी।
मुख मध्ये खेचरी मुद्रा स्वादबिस्वाद ले उतपनी।।

५. भूचरी मुद्रा— स्वाद विस्वाद समो कृतवा मुद्रा तो भई खेचरी।
नासिका मध्ये भूचरी मुद्रा गंध निबंध ले उतपनी।।

६. चाचरी मुद्रा— गंध विगंध समो कृतवा मुद्रा तौ भई भूचरी।
चखिमध्ये चाचरी मुद्रा दिष्टि-विदिष्टि हो उतपनी।।

७. अगोचरी मुद्रा— दिष्टि विदिष्टि समो कृतवा मुद्रा तौ भई चाचरी।
करण मध्ये अगोचरी मुद्रा सबद कुसबद ले उतपनी।।

८. उनमनी मुद्रा— सबद कुसबद समो कृतवा मुद्रा तौ भई अगोचरी।
ब्रह्माण्ड असथानि उनमनी मुद्रा परम जाति लै उतपनी।।

परम जोति समो कृतवा मुद्रा तौ भई उनमनी।
सुंनि मँडल तहाँ नीझर झरिया।
चंद सुरजि ले उनमनि धरिया।।

(चन्द्रमा और सूर्य के योग से जब उन्मनावस्था आती है, तब ब्रह्मरन्ध्र (शून्यमण्डल) में अमृत का निर्झर झरने लगता है।)

उनमनि रहिबा भेद न कहिबा पीयवा नींझर पाणी।
लंका छाडि पलंका जाइबा तब गुरमुख लेबा वाणी।।

असाध साधंत गगन गाजंत उनमनी लागत ताली।
उलटंत पवनं पलटंत वाणी अजीव पीवत जे ब्रह्मज्ञानी।।

अनहद सूं मन उनमन रहै, सो सन्यासी अगम की कहै।
बदंत गोरख रुति ते सूरिवां उनमनि मन मैं वास।।

उनमनि डांडी मन तराजू पवन कीया गदियाना।
मन पवन दो काय सुपारी उनमनी तिलक सिंदूरं।।

नासिका अग्रे भ्रूमण्डले अहनिस रहिवा थीरं।
माता गरभि जनम न आयबा बहुरि न पीयवा खीरं।।

नासा अग्र निजु ज्यौ बाई। इड़ा प्यंगुला मधि समाई।। (गो० बा०)

वज्रोली-अमरोली मुद्रा—

बजरी करंता असरी राखै अमरि करंता बाई।
भोग करंता जे व्यंद राखै ते गोरख का गुरभाई।।

खेचरी मुद्रा— मुख मध्ये खेचरी मुद्रा स्वाद विस्वाद ले उतपनी।।

भूचरी मुद्रा— नासिका मध्ये भूचरी मुद्रा गंध निबंध ले उतपनी।।

चाचरी मुद्रा— चखि मध्ये चाचरी मुद्रा दिष्टि विदिष्टि ले उतपनी।

आचार्य रामानन्द कहते हैं—

चाचरी भूचरी खेचरी अगोचरी उन्मुनी पाँच मुद्रा साधत सिद्ध राजा।।

उन्मनी मुद्रा— गोरक्षनाथ ने 'अमनस्क योग' में इसे अमनस्क कहा है—

तत्त्वस्य सम्मुखे जाते अमनस्कं प्रजायते।।

अमृतोद्दीपनी विद्या निरपाया निरञ्जना।
अमनस्का कला कापि जयत्यानन्ददायिनी।।

मत्स्येन्द्रनाथ—

१. (कौणसो पाती किहि विधि रहै)
पाँचों पाती उनमनि रहै। ऐसा विचार मछिंद्र कहै।
२. (तामैं निहचल कैसे रहे)
तामहिं निहचल उनमन रहै। ऐसा विचार मछिंद्र कहै।
३. रूप अरूप मन उनमनि रहै। ऐसा विचार मछिंद्र कहै।
४. सिव सकती ले उनमन रहै। ऐसा विचार मछिंद्र कहै।
५. सदा चेतनि मन उनमत रहै। सतगुर होइ सु बूंझां कहै।
६. गगन अस्थाने मन उनमन रहै। ऐसा बिचारि मछिन्द्र कहै।

गोरखनाथ—

१. अहनिसि मन लै उनमन रहै। गम की छाँड़ि अगम की कहै।।
२. मन पवना लै उनमनि धरिवा ते जोगी ततसारं।
३. यहु मन लै जे उनमन रहै।
तौ तीनि लोक की बातां कहै।

४. अवधू दम कौं गहिबा उनमनि रहिवा ज्यूं बाजवा अनहदतूरं।
५. छठैं छमासि काया पलटिबा तब उनमुनि जोग अपारं।
६. सुंनि मंडल तहाँ नीझर झरिया चंद सुरजि ले उनमनि धरिया।
७. उनमनि रहिबा भेद न कहिबा पीयबा नींझर पांणी।
८. असाध साधंत गगन गाजंत उनमनी लागंत ताली।
९. अनहद सूं मन उनमन रहै। सो सन्यासी अगम की कहै।
१०. बदंत गोरख सति ते सूरिबां उनमनि मन मैं बास।
११. उनमन जोगी दसवैं द्वार। नाद व्यंद ले धूँधूँकार।
१२. परचय जोगी उनमन खेला। अहनिसि रंछया करै देवता स्यूं मेला।

आचार्य रामानन्द—

१. उनमुनी दिष्टि सो भाव देखै।
२. उनमनी भरे जदद मसाल।
३. चाचरी भूचरी खेचरी अगोचरी उन्मुनी।
पाँच मुद्रा साधते सिद्ध राजा। (रामरक्षा)[१]

उन्मनी मुद्रा की प्रक्रिया— योगीश्वर गोरक्षनाथ उन्मनीकारक विधि के विधान का प्रस्तुतीकरण इस प्रकार करते हैं कि तारों (आँख की पुतलियों) को ज्योति में लगाकर भौंहों को कुछ ऊर्ध्व करना चाहिये (ऊपर चढ़ा लेना चाहिये)। यह पूर्वयोग (तारक योग) का योग-मार्ग (पद्धति) क्षण भर में उन्मनीभाव उत्पन्न कर देता है—

तारे ज्योतींषि संयोज्य किञ्चिदुन्नमयन् भ्रुवौ।
पूर्वयोगस्य मार्गोऽयमुन्मनीकारकः क्षणात्।।[२]

समस्त चिन्ताओं से मुक्त होकर तथा सुरम्य प्रदेश में समासीन होकर योग का अभ्यास करना चाहिये। सब प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त होकर, एकान्त स्थान में स्थिर होकर, समान आसन में समासीन होकर, पीछे की ओर कुछ झुककर अर्थात् तनकर, स्थिरांग होकर, सुखपूर्वक बैठकर एवं एक हाथ तक दृष्टि को स्थिर करके योग का अभ्यास करना चाहिये। इस विधि से योगाभ्यास करने से मन सुस्थिर हो जाता है और क्रमशः वायु, वाणी, देह एवं दृष्टि में स्थैर्य आ जाता है। जिसको अमनस्क योग की प्राप्ति हो रही हो और जो सब ओर से उदासीन हो, ऐसे योगी के शरीर में मृदुता एवं लघुता आ जाती है।[३]

---

१. विशेष ध्यातव्य— उन्मनी मुद्रा का उल्लेख हठयोगप्रदीपिका, घेरण्डसंहिता एवं शिव-संहिता में नहीं है।
२. अमनस्कयोग।
३. अमनस्कयोग।

दृश्य के विना ही जिसकी दृष्टि स्थिर हो जाय, विना किसी प्रकार के प्रयत्न के जिसकी वायु स्थिर हो जाय एवं विना किसी अवलम्बन के जिसका चित्त स्थिर हो जाय; वही योगी है। वही गुरु होने के योग्य है और वही सेव्य है—

दृष्टिः स्थिरा यस्य विनैव दृश्यं वायुः स्थिरो यस्य विना प्रयत्नम्।
चित्तं स्थिरं यस्य विनावलम्बनं स एव योगी स गुरुः स सेव्यः।।[१]

सुखासन पर समासीन होकर परतत्त्व का अभ्यास करना चाहिये। साधक को अभ्यास द्वारा परतत्त्व को प्रकाशित करना चाहिये। ये भूतात्मक जगत्, ये पञ्चभूत, यह पञ्चभूतात्मक शरीर आदि सभी वितथ हैं; अतः 'ये हैं ही नहीं'— ऐसी भावना करनी चाहिए।

सब प्रकार की चिन्ताओं से रहित होकर मन से किसी का भी चिन्तन नहीं करना चाहिये। जो योगी ऐसा करता है, ऐसे योगी के बाहर एवं भीतर तत्त्व (उसके सम्मुख) उपस्थित हो जाता है अर्थात् उसे बाहर एवं भीतर सर्वत्र तत्त्व स्फुरित रूप में दृष्टिगोचर या अनुभूत होता है। तत्त्व के सम्मुख होने पर अमनस्क योग हो जाता है। अमनस्क योग की प्राप्ति होने पर चित्त आदि का सम्यक् लय हो जाता है—

(क) न किञ्चिन्मनसा ध्यायेत्सर्वचिन्ताविवर्जितः।
स बाह्याभ्यन्तरे योगी जायते तत्त्वसम्मुखः।।

(ख) तत्त्वस्य सम्मुखे जाते अमनस्कः प्रजायते।
अमनस्केऽपि सञ्जाते चित्तादिविलयो भवेत्।।[२]

हठयोगप्रदीपिका में भी कहा गया है—

बाह्यचिन्ता न कर्तव्या तथैवान्तरचिन्तनम्।
सर्वचिन्तां परित्यज्य न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।।[३]

चित्त आदि का विलय हो जाने पर पवन (वायु) का लय हो जाता है। मन और पवन का विलय हो जाने पर इन्द्रियार्थों (पञ्च महाविषयों) का त्याग हो जाता है। इन्द्रियार्थों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) का त्याग हो जाने पर योगी को बाह्य ज्ञान नहीं रह जाता। बाह्य ज्ञान के विनष्ट होने पर वैषम्य के अभाव के कारण सर्वसाम्य हो जाता है। सर्व-साम्य होने पर साधक व्यापारशून्य हो जाता है और परब्रह्म में समाविष्ट योगी लयीभूत हो जाता है।[४]

अन्तर्मुद्रा और उन्मनी— योगिराज गोरक्षनाथ ने अमनस्क योग को अन्तर्मुद्रात्मक कहा है और इसे ही यथार्थ योग कहा है—

मुद्राद्वय— गोरक्षनाथ के अनुसार मुद्रायें दो प्रकार की हैं—

---

१. अमनस्कयोग।
२. अमनस्क योग।
३. स्वात्माराम मुनीन्द्र।
४. अमनस्क योग।

बहिर्मुद्रा (बहियोंग) एवं अन्तर्मुद्रा (अन्तर्योग)।

पूर्वयोग या तारक योग बाह्य मुद्रा से मुक्त होने के कारण बहियोंग है और अमनस्क योग (उन्मनी योग) अन्तर्मुद्रात्मक होने के कारक यथार्थ योग है।[१]

अमनस्क और राजयोग— गुरु गोरक्षनाथ कहते हैं कि अमनस्क योग (उन्मनी मुद्रा से प्राप्य योग की उन्मनावस्था) ही राजयोग है—

राजयोगः स कथितः स एव मुनिपुङ्गव।
राजत्वात् सर्वयोगानां राजयोग इति स्मृतः।।[२]

अन्तर्योग और बहिर्योग में से अन्तर्योग अमनस्क योग है। अन्तर्योगात्मक अमनस्क योग में चित्त, बुद्धि, अहंकार, ऋत्विक्, सोम १० इन्द्रियों और प्राणों का ज्योतिर्मण्डल में हवन करते हैं।

(क) होता = चित्त, बुद्धि, अहंकार, ऋत्विक्, सोम।
(ख) हव्य = (हवन-सामग्री) = २० इन्द्रियाँ।
(ग) होमकुण्ड = ज्योतिर्मण्डल।[३]

इस अमनस्क (उन्मनी भाव) की साधना हेतु पवित्र, निर्जन एवं मनोहर प्रदेश, समान आसन, कुछ तन कर बैठने की स्थिति, सुखासन, समस्त अंगों की यथास्थान स्थापना, सुस्थिर चित्तता, निश्चलता, एक हाथ आगे तक दृष्टि-स्थापन, पैर के नख से शिखापर्यन्त समस्त अंगों का शैथिल्य, आन्तर-बाह्य समस्त चिन्ताओं का त्याग, औदासीन्य, आनन्द-पूर्वक सन्तुष्टि के साथ अभ्यास, वाणी, मन एवं शरीर के क्षोभ का परित्याग तथा शिला की भाँति शरीर की सुस्थिरता (निश्चलता) होनी चाहिये।[४]

जब जहाँ पर जिस प्रकार मन स्थिर हो तब वहाँ उसी प्रकार उसको रहने देना चाहिये। उसे वहाँ से कभी नहीं हटाना चाहिये।[५]

ऐसा साधक न सोता है और न जागता है। वे स्वप्न-जागरण-विहीन होते हैं; क्योंकि स्वप्न चिदंशरहित होता है और जागरण में विषयग्रह का प्राधान्य होता है—

स्वप्ने चिदंशशून्यत्वं जागरे विषयग्रहः।
स्वप्नजागरणातीतमतस्तत्त्वं विदुर्बुधाः।।

दृष्टि जहाँ-कहीं संलग्न होती है, वहीं पर स्थिर होकर धीरे-धीरे नष्ट हो जाती है। चारो ओर फैलाई हुई दृष्टि जब धीरे-धीरे प्रत्याहृत होकर पुनरावर्तित होती है, तब साधक परतत्त्व को स्वयं अपने में देखता है। जैसे सोकर उठा हुआ कोई पुरुष रसादि विषयों

---

१. अमनस्क योग (उत्तरार्ध)।
२. अमनस्क योग।
३. अमनस्क योग।
४. अमनस्क योग (५०-५७)।
५. अमनस्क योग।

का अनुभव करता है, वैसे ही योगनिद्रा के समय योगी जागता ही रहता है, इसीलिए वह 'योगी' कहलाता है—

यथा सुप्तोत्थितः कश्चिद् विषयान् प्रतिपद्यते।
जागर्त्येव ततो योगी योगनिद्राक्षणे तथा।।[१]

जाग्रत-स्वप्न के मध्य की स्थिति ही उन्मनी है—

निद्राजाग्रन्मध्यभागे संविद्भेदान्तरे तथा।
मध्ये संविद्वेद्योश्च सूक्ष्मबुद्ध्याऽभिलक्षय।।

एतत्पदं निजं रूपं यत् प्राप्य न विमुह्यति।
एतदज्ञानमात्रेण प्रवृत्तं जगदीदृशम्।।

मन जहाँ स्थिर होता है, वहीं नष्ट हो जाता है—

स्थिरीभूता च यत्रैव विनश्यति शनैः शनैः।

मन के स्थिर होने पर न तो कोई विधि है और न ही कोई क्रम है—

सदाभ्यासे स्थिरीभूते न विधिर्नैव च क्रमः।

स्थिरीकरण के लिए चिन्तन का त्याग अपरिहार्यतः आवश्यक है; क्योंकि तभी तत्त्व प्रकाशित हो पाता है; अन्यथा नहीं—

न किञ्चिच्चिन्तयेद् योगी औदासीन्यपरो भवेत्।
न किञ्चिच्चिन्तनादेव स्वयं तत्त्वं प्रकाशते।।

इस साधना में थोड़ा-सा भी प्रयत्न नहीं किया जाना चाहिये, संकल्प-कामना नहीं होनी चाहिये एवं अहं-त्वं का बोध भी नहीं होना चाहिये; क्योंकि—

यावत्प्रयत्नलेशोऽस्ति यावत्सङ्कल्पकामना।
अहं त्वमिति सम्प्राप्तिस्तावत्तत्त्वस्य का कथा।।

न रोका गया मन अपनी इच्छा पूरी करके अपने-आप शान्त हो जाता है तथा प्रयत्न-पूर्वक निवारित करने पर भी कभी निवृत्त नहीं होता। मन जब तक तत्त्व प्राप्त नहीं करता, तब तक इधर-उधर भागता रहता है—

दुर्निवार्यं मनस्तद्वद्यावत्तत्त्वं न बिन्दति।

मनोवृत्ति आत्मा में सदा सुस्थिर रहती है—

सदाभ्यासान्मनोवृत्तिस्तदात्मनि।

जो कुछ भी चराचर जगत् है, वह सब मन से दृश्य है। मन का उन्मनीभाव होने पर अद्वैत हो जाता है—

---

१. अमनस्क योग।

मनोदृश्यमिदं सर्वं यत् किञ्चित्सचराचरम्।
मनसोऽप्युन्मनीभावेऽद्वैतभावः प्रकल्पते।।[१]

योगी को न तो दिन में जागना चाहिये और न ही रात्रि में सोना चाहिये; प्रत्युत उसे तो नित्य रात्रि एवं दिन में सहज तत्त्व में सोना चाहिये—

न दिवा जागरितव्यं स्वपितव्यं नैव रात्रिभागेऽपि।
रात्रावह्नि च सहजे स्वपितव्यं योगिना नित्यम्।।

अमनस्कस्वरूप सहजतत्त्व में स्थित पुरुष के विषय में दिन और रात्रि शब्द हैं ही नहीं; क्योंकि वे जागरण-शयन-वर्जित तथा चिन्मात्रानन्दावस्थित रहते हैं।

ओंकारादि विभिन्न करणों से प्राण का संयोजन, हृदयकमल में ज्योतिश्चिन्तन एवं महाशून्यालम्बन (चित्त का निरालम्बन)— इन सबका मनविभ्रम-निराकरणार्थ अवाच्य अमनस्क का सेवन करना चाहिये—

अवाच्यमेकममनस्कत्वं बुधैः सेव्यताम्।[२]

उन्मनी तो भगवती की पवित्र आख्या भी है—

सर्वयन्त्रात्मिका सर्वतन्त्ररूपा मनोन्मनी।[३]

भ्रूमध्य से अष्टम स्थान ब्रह्मरन्ध्र है और उसके नीचे मनोन्मनी उन्मनी है—

भ्रूमध्यादष्टमं स्थानं ब्रह्मरन्ध्रादधस्तनं मनोन्मनीम्।

उन्मनी का जन्म— सुषुम्नावाहिनि प्राणे सिद्ध्यत्येव मनोन्मनी।[४] स्वच्छन्दतन्त्र में उसका स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—

या शक्तिः कारणत्वेन तदूर्ध्वं चोन्मनी स्मृता।
नात्र कालकलामानं न तत्त्वं न च देवता।।

सुनिर्वाणं पदं शुद्धं रुद्रवर्णं तदुच्यते।
शिवशक्तिरिति ख्याता निर्विकल्पा निरञ्जना।।

त्रिपुरोपनिषद् में कहा गया है कि उन्मनीभाव परमपद है—

निरस्तविषयासङ्गं सन्निरुद्धं मनो हृदि।
यदा यात्युन्मनीभावं तदा तत्परमं पदम्।।

उन्मनी मुद्रा— योगशास्त्र में उन्मनी एक मुद्रा भी है। उसका स्वरूप इस प्रकार है—

नेत्रत्रयोन्मेषनिमेषमुक्ते वायुर्यया वर्णितरेचपूरः।
मनश्च सङ्कल्पविकल्पशून्यं मनोन्मनी सा मयि सन्निधत्ताम्।।

बृहन्नारदीय पुराण में कहा गया है—

---

१. अमनस्क योग।
२. अमनस्क योग।
३. ललितासहस्रनाम।
४. सौभाग्यभास्कर।

ध्यानध्यातृध्येयभावो यदा पश्यति निर्भरम्।
तदोन्मनत्वं भवति ज्ञानामृतनिषेवणात्।।

उन्मनी अद्वैतभाव की स्थिति है; क्योंकि—

मनसो ह्युन्मनीभावाद् द्वैतं नैवोपलभ्यते।।[१]

उन्मनी नमस्कार्य है; इसीलिए हठयोगप्रदीपिकाकार कहते हैं—

मनोन्मन्यै नमस्तुभ्यं महाशक्त्यै चिदात्मने।।

स्वात्माराम मुनीन्द्र कहते हैं कि तत्त्व (चित्त) ही बीज है (क्योंकि चित्त ही उन्मनी-रूप अंकुर है)। प्राणापान की एकता रूप हठयोग उसका क्षेत्र है। औदासीन्य जल है। उसी से उन्मनी कल्पलतिका का जन्म होता है—

तत्त्वं बीजं हठ: क्षेत्रमौदासीन्यं जलं त्रिभि:।
उन्मनीकल्पलतिका सद्य एव प्रवर्तते।।[२]

मन-उन्मन लययोग सन्तों में पर्याप्त रूप में मिलता है। मन को उन्मनरूपी परमात्मा में लीन करने से मन निर्मल हो जाता है, सन्त कवि दादूदयाल कहते हैं कि जैसे मैले मन को शुद्ध मन से धोकर स्वच्छ किया जाता है, उसी प्रकार इस मन को उन्मनी में लीन करके पूर्ण निर्मल करना चाहिये। उन्मनी ध्यान एवं उन्मनी मुद्रा— दोनों ही उन्मन योग के लिए आवश्यक हैं। दादूदयाल कहते हैं कि वैरागी योगी सदैव उन्मनी ध्यान में ही लीन रहता है— 'जुगिया बैरागी बाबा रहै अकेला उन्मनी लागा।' मन को अन्तर्मुखी करने पर ही उन्मनी ध्यान लगता है। कबीर कहते हैं कि लोग परमात्मा को बाहर ढूँढ़ने में सारा जीवन नष्ट कर देते हैं; किन्तु उन्मनी ध्यान से उसकी प्राप्ति शरीर के भीतर ही हो सकती है। उन्मन ध्यान ही क्रमश: धीरे-धीरे उन्मन समाधि में परिणत हो जाता है। कबीर कहते हैं कि उन्मनी ध्यान में संलग्न रहने से मन थक गया है। सहज समाधि लग गई है। किसी बात का वर्णन नहीं किया जा सकता। उन्मन ध्यान घर के भीतर ही है— 'बाहर खोजत जनम गँवाया। उन्मन ध्यान घट भीतर पाया।'

उन्मनी ध्यान का साफल्य केवल उन्मनि मुद्रा पर ही आश्रित है। मन का अन्तर्मुखी-करण ही उन्मनी मुद्रा है। कबीर कहते हैं कि साधक को चाहिये कि मन को अन्तर्मुखी करके उन्मनी मुद्रा लगाये। उन्मनी मुद्रा में उन्मन ध्यान करने से मन शून्य में प्रविष्ट हो जाता है। यही 'मन उन्मन लय योग' है। यही 'मन शून्य लय योग' है।

मन-उन्मन योग में मन का परिष्करण आवश्यक है। उन्मनी मुद्रा में मन को अन्तर्मुखी करना होता है। ज्ञान एवं सदाचार के विना मन अन्तर्मुखी हो ही नहीं सकता। मन ज्ञान एवं सदाचार से शुद्ध होने पर उन्मनी ध्यान में लीन हो जाता है। कबीर कहते है कि

१. हठयोगप्रदीपिका। २. हठयोगप्रदीपिका।

साधक उन्मनी समाधि में लीन होकर गगन में रसास्वादन किया करते हैं। मन को ब्रह्म-रन्ध्र में केन्द्रित करना मनशून्य योग है। सन्तों की दृष्टि में शून्य में ध्यान का केन्द्रीयकरण ही उन्मनी मुद्रा है।

सन्तों ने भी अगोचरी, भूचरी, चाचरी, खेचरी, शाम्भवी एवं उन्मनी मुद्राओं का उल्लेख किया है। सन्तों के मत में (यथा— सन्त यारी के मत में)—

१. त्रिकुटी में दामिनी जैसी ज्योति पर मन का केन्द्रीयकरण 'चाचरी' मुद्रा है।

२. मस्तक में ज्योति का दर्शन करना 'भूचरी' मुद्रा है।

३. गगनगुफा या ब्रह्मरन्ध्र में ज्योति-ध्यान 'खेचरी' मुद्रा है।

४. शून्य में ध्यान का केन्द्रीयकरण 'उन्मनी' मुद्रा है।

तान्त्रिकों में कुण्डलिनी साधना के अतिरिक्त मुद्रा-साधना भी प्रचलित रही है।[१] कुण्डलिनी को जागृत करने के लिए योगी को सबसे पहले दस मुद्राओं की साधना करनी पड़ती है।

कबीर कहते हैं— 'उन्मुनि रहै ब्रह्म को चीन्है परम तत्त्व को ध्यावै।' 'उन्मनि रहनी' का समस्त विवरण इस प्रकार है—

सन्तो सहज समाधि भली।
आँख न मूँदूँ, कान न रुँधूँ काया कष्ट न धारूँ।
खुले नैन मै हँस हँस देखूँ सुन्दर रूप निहारूँ।
कहूँ सो नाम सुनूँ सो सुमिरन जो कुछ करूँ सो पूजा।
गिरह उद्यान एक सम देखूँ भाव मिटाऊँ दूजा।
जहँ जहँ जाउँ सोई परिकरमा जो कुछ करूँ सो सेवा।
जब सोऊँ सो तब करूँ दण्डवत पूजूँ और न देवा।।[२]

उन्मनी मुद्रा, आज्ञा चक्र एवं ध्यान— शिवसंहिता में ११ मुद्राओं का वर्णन किया गया है। इसमें योनिमुद्रा, महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, जालन्धर, मूलबन्ध, विपरीत-करिणी, उड्डीयानबन्ध, वज्रोली एवं शक्तिचालन का एवं घेरण्डसंहिता में वज्राणी, माण्डवी, ताडागी, शाम्भवी, योनि आदि का वर्णन तो है; किन्तु इन दोनों में उन्मनी मुद्रा का उल्लेख कहीं नहीं किया गया है। हठयोगप्रदीपिका में उन्मनी का उल्लेख निम्न रूपों में किया गया है[३]—

---

१. प्रिंसपल्स आफ तन्त्राज।

२. कहे कबीर यह उन्मुनि रहनी सो परगट कर गाई।

३. हठयोगप्रदीपिका में महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, उड्यान, मूलबन्ध, जालन्धर, विपरीतकरणी, वज्रोली, शक्तिचालन इन १० मुद्राओं का उल्लेख तो है, किन्तु इसमें उन्मनी मुद्रा का उल्लेख नहीं किया गया है।

(क) अवस्था के रूप में मनोन्मनी—

एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी।
एको देवो निरालम्ब एकावस्था मनोन्मनी।। (३.५४)

(ख) राजयोग, समाधि, अमनस्क, सहजा, लय एवं अद्वैत के अर्थ में—

राजयोगः समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी।
अमरत्वं लयस्तत्त्वं शून्या शून्यं परं पदम्।।

अमनस्कं तथाऽद्वैतं निरालम्बं निरञ्जनम्।
जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकाः।। (४.३-४)

(ग) सुषुम्णा में प्राणसञ्चार की अवस्था के रूप में—

सुषुम्नावाहिनी प्राणो सिद्ध्यत्येव मनोन्मनी।। (४.२०)

(घ) उन्मनी मुद्रा के रूप में (किन्तु १० मुद्राओं में इसका कहीं भी उल्लेख नहीं किया गया है)—

१. तारे ज्योतींषि संयोज्य किञ्चिदुन्नमयेद् भ्रुवौ।
पूर्वयोगं मनो युञ्जन्नुन्मनीकारकः क्षणात्।।

२. केचिदागमजालेन केचिन्निगमसङ्कुलैः।
केचित्तर्केण मुह्यन्ति नैव जानन्ति तारकम्।।
(तारकं = उक्तोन्मन्येव तरणोपायः)

नेत्रों की कनीनिकारूप तारा को ज्योति में (तारों को नासिका के अग्र भाग में) लगाने से उत्पन्न प्रकाशमान तेज में लगाकर भृकुटियों को थोड़ा ऊपर करने से अन्तर्लक्ष्म बहिर्दृष्टि-रूप योग में मन का संयोग उन्मनीकारक अवस्था उत्पन्न करता है। उन्मनीकारक = उन्मन्य-वस्थाकारक।

उन्मनी के विना कोई संसार-सागर से तारने वाला नहीं है— 'उन्मन्येव तरणोपायः' (ज्योत्स्ना)।

(ङ) खेचरी की परिपक्वावस्था के रूप में—

पुरस्ताच्चैव पूर्येत निश्चिता खेचरी भवेत्।
अभ्यस्ता खेचरी मुद्राप्युन्मनी सम्प्रजायते।। (४.४७)

भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं मनस्तत्र विलीयते।
ज्ञातव्यं तत्पदं तुर्यं तत्र कालो न विद्यते।। (४.४८)

(च) अद्वैतावस्था के रूप में—

मनसो ह्युन्मनीभावाद् द्वैतं नैवोपलभ्यते।। (४.६१)

(छ) उन्मनी अवस्था प्राप्त करने हेतु भ्रूध्यान आवश्यक है—

उन्मन्यवाप्तये शीघ्रं भ्रूध्यानं मम सम्मतम्।। (४.८०)

(ज) चित्त (तत्त्व) बीज है। ह + ठ = खेत है। औदासीन्य = जल है। उन्मनी कल्पलतिका है। उन्मनी = असम्प्रज्ञात समाधि।

(क) शाम्भवी मुद्रा का उपयोग— दक्षिण कान से नादश्रवण (४.६७)।

(ख) पराङ्गमुखी मुद्रा का उपयोग— स्फुट, अमल नाद को सुषुम्णा में सुनना (४.६८)।

उन्मनी अवस्था एवं उसमें स्थित योगी के लक्षण

हठयोगप्रदीपिका में उन्मनी अवस्था में स्थित योगी के निम्न लक्षण दिये गये हैं—

१. शंख, दुन्दुभी आदि की गम्भीर ध्वनियों को भी उन्मन योगी सुन नहीं पाता तथा उसका शरीर काष्ठ के साथ संवेदनहीन एवं स्थिर या निश्चल हो जाता है—

काष्ठवज्जायते देह उन्मन्यावस्थया ध्रुवम्।। (४.१०६)

२. वह समस्त अवस्थाओं से विनिर्मुक्त, सर्वचिन्तातीत तथा मृतक के समान संवेदन-हीन एवं निश्चल हो जाता है।[१]

३. वह काल, कर्म एवं अन्य यन्त्र-मन्त्र के प्रयोगों से अप्रभावित हो जाता है।

४. ऐसा योगी समाधिस्थ होने पर गन्ध, रस, रूप, स्पर्श एवं शब्द को, अपने को, दूसरे को नहीं जानता।

५. वह जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, स्मृति, उदय एवं अस्त से परे है।[२]

६. वह शीत, ऊष्ण, सुख, दुःख, मान, अपमान किसी की भी संवेदना नहीं रखता।

७. वह जागृतावस्था में भी सुषुप्तवत् रहता है। वह उच्छ्वास-निश्वास से रहित एवं मुक्त होता है।

८. वह समस्त शस्त्रों से अवध्य होता है। वह समस्त प्राणियों द्वारा अशक्य (अग्राह्य) होता है। सभी मन्त्रों एवं यन्त्रों की पकड़ से पर होता है।[३]

क्रममुद्रा

क्रमसूत्रों में लिखा गया है कि अन्तःस्वरूप क्रममुद्रा के द्वारा बहिर्मुख होने पर भी साधक समाधिस्थ ही रहता है। वहाँ पहले बाह्य से अन्तः में प्रवेश होता है तथा आभ्यन्तर से बाह्य स्वरूप में भी प्रवेश समाधिबल से सम्पन्न होता है। इस प्रकार यह मुद्राक्रम बाह्य एवं आभ्यन्तर से संयुक्त होता है—

'क्रममुद्रया अन्तःस्वरूपया बहिर्मुखः समाविष्टो भवति साधकः। तत्रादौ बाह्यात् अन्तःप्रवेशः आभ्यन्तरात् बाह्यस्वरूपे प्रवेशः आवेशवशात् जायते इति सबाह्याभ्यन्तरोऽयं मुद्राक्रमः।'[४]

१-३. हठयोगप्रदीपिका। ४. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में उद्धृत।

इसका अर्थ यह है कि सृष्टि, स्थिति और संहार संवित् समूहरूप क्रम को जो मुद्रित करती है— आत्मसात् करती है, वह तुरीय चिति शक्ति ही 'क्रममुद्रा' है। इस पूर्णाहन्ता-स्वरूप क्रममुद्रा के द्वारा विषयों में व्यापृत रहने पर भी जिसने परशक्ति के विकास का साक्षात्कार कर लिया है, वह परम योगी हो जाता है और वहाँ बाह्य अर्थात् निगले जाते हुए विषयसमूह से अन्त: पराचिति भूमि में ग्रसनक्रम से समावेश होता है और आभ्यन्तर अर्थात् साक्षात्कृत चितिशक्तिस्वरूप से समावेश के सामर्थ्य से ही इदन्तात्मक विषय-समूह में वमन की युक्ति से प्रवेश— चिद्रस की निविड़ता का प्रसारस्वरूप समावेश हुआ करता है।[१]

इस प्रकार यह नित्योदित— बाह्यान्तर समावेश 'मुद'— हर्ष के वितरण करने से परमानन्दस्वरूप होने के कारण, पाशों को नष्ट करने एवं विश्व को अन्त:— तुरीय सत्ता में मुद्रित करने के कारण मुद्रात्मा और सृष्ट्यादि क्रम का आभासक होने के कारण तथा क्रमाभासस्वरूप होने के कारण 'क्रम' कहा जाता है।[२]

जब साधक का परमेश्वर के साथ ऐकात्म्य होता है तब शरीर में एक प्रकार का तनाव या भावप्रदर्शनार्थ एक विशेष प्रकार का आकृतिजन्य आंगिक परिवर्तन हो जाता है और उसे ही 'मुद्रा' कहते हैं। इसमें उँगलियों की विशेष आकृतियाँ निर्मित हो जाती हैं। कभी-कभी हाथ उठ जाता है। कभी कभी मुख-चेष्टा में परिवर्तन हो जाता है। ये ही आकृति-परिवर्तन की रचनायें 'मुद्रा' कहलाती हैं। पराशक्ति की मदिरा से मत्त शरीर में जो उत्थानादि चेष्टायें उत्पन्न हो जाती हैं, वे भी मुद्रायें कहीं जाती हैं—

कुले योगिनि उद्रिक्तभैरवीयपरासवात्।
घूर्णितस्य स्थितिर्देहे मुद्रा या काचिदेव सा।।[३]

आवाहनी मुद्रा— दोनों हाथों के अँगुलियों की अञ्जलि बनाकर अनामिकाओं के मूल में अँगूठा लगावे।

स्थापिनी मुद्रा— आवाहिनी मुद्रा को अधोमुख करे।

सन्निधापिनी मुद्रा— दोनों हाथों की मुट्ठी बाँधकर दोनों अँगूठों को ऊपर उठा दे।

सन्निबोधिनी मुद्रा— दोनों अंगूठों की मुष्टी के भीतर कर मुष्टी को अधोमुख करे।

सकलीकरण मुद्रा— देवता के अंगों में षडंगन्यास करे।

परमीकरण मुद्रा— दोनों हाथों को एक साथ मिलाकर अधोमुख करे।[४]

इसके अनन्तर 'वं' मन्त्र से धेनुमुद्रा द्वारा अमृतीकरण एवं निम्न मन्त्र से प्राण-प्रतिष्ठा करें—

---

१. शक्तिसूत्र।
२. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्।
३. तन्त्रालोक।
४. शाक्तानन्दतरङ्गिणी।

आं ह्रीं क्रों यं रं लं वं शं षं सं हौं हंसः अमुकि देव्याः प्राणा इह प्राणाः आं ह्रीं क्रों यं रं लं वं शं षं सं हौं हंसः अमुकि देव्याः जीव इह स्थितः। आं ह्रीं क्रों यं रं लं वं शं षं सं हौं हसः अमुकि देव्याः सर्वेन्द्रियाणि वाङ्मनश्चक्षुःश्रोत्र-घ्राणप्राणा इहागत्य सुखं चिरं तिष्ठन्तु स्वाहा।

देवी के वाम या दक्षिण भाग में प्राणादि ग्रासमुद्राओं का प्रदर्शन किया जाना चाहिए—

प्राण मुद्रा— दाहिने हाथ की उँगलियों को कुछ वक्राकार करके उनके अग्रभाग को एक-दूसरे से संलग्न करे।

अपान मुद्रा— तर्जनी एवं मध्यमा तथा अंगुष्ठ को संयुक्त करे।

व्यान मुद्रा— मध्यमा, अनामिका एवं अंगुष्ठ को संलग्न करे।

उदान मुद्रा— कनिष्ठा को छोड़कर शेष चार उँगलियों को संलग्न करे।

समान मुद्रा— अंगुष्ठादि को छोड़कर शेष चार उँगलियों को संलग्न करे।[1]

शाम्भवी मुद्रा और उसका विशेष महत्त्व

घेरण्डसंहिता, हठयोगप्रदीपिका, अमनस्क योग आदि योग के तान्त्रिक एवं नाथपन्थी अनेक ग्रन्थों में शाम्भवी मुद्रा को कुलवधू की भाँति सम्माननीय एवं उसकी तुलना में वेदों एवं शास्त्रों को घृणित वेश्याओं की भाँति लज्जास्पद कहा गया है—

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव।
एकैव शाम्भवी विद्या गुप्ता कूलवधूरिव।।

इसे समस्त शास्त्रों में गुप्त कहा जाता है—

एषा हि शाम्भवी मुद्रा सर्वशास्त्रेषु गोपिता।।

शाम्भवी मुद्रा केवल मुद्रामात्र नहीं है; प्रत्युत यह शक्ति है। शाम्भवी मुद्रा आदि शक्ति 'उमा' है। गोरक्षनाथ कहते हैं—

आदिशक्तिरुमा चैषा मत्तो जन्मवती पुरा।

यह भगवतीस्वरूपा तो है ही; साथ ही साक्षात् भगवान् शिव से उत्पन्न भी हुई है—

मत्तो जन्मवती पुरा।

यह वह रहस्यमयी एवं गोपनीय से भी गोपनीय विद्या है, जिसे किसी सामान्य व्यक्ति को दिया भी नहीं जा सकता। इसे केवल अधिकारी व्यक्ति ही प्राप्त करने का अधिकारी है; अन्य नहीं—

गुह्यात् गुह्यतरा विद्या न देया यस्य कस्यचित्।

इस शाम्भवी मुद्रा का ज्ञान जिस किसी भी अञ्चल या देश में विद्यमान है, वह देश भी धन्य एवं पुण्यशाली है—

---

१. शाक्तानन्दतरङ्गिणी। २-३. अमनस्कयोग।

एतज्ज्ञानं वसेद् यत्र स देश: पुण्यभाजनम्।

उस प्रदेश के दर्शन एवं स्पर्श से व्यक्ति २१ पुश्तों सहित मुक्ति प्राप्त कर लेता है—

दर्शनात् स्पर्शनात्तस्य त्रिसप्तकुलसंयुता:।
जना मुक्तिपदं यान्ति किं पुनस्तत्परायणा:।।[१]

शाम्भवी मुद्रा और आज्ञाचक्र का महत्त्व

आधुनिक विज्ञान की दृष्टि में आज्ञा चक्र के महत्त्व का विश्लेषण—

१. स्नायु-विज्ञानियों के परीक्षणों से ये तथ्य सामने आये हैं कि आज्ञाचक्र के स्थान में 'आप्टिक चि आज्मा' के समीप की कोशिकाओं से निरन्तर एलेक्ट्रो मैग्नेटिक तरंगें निकलती रहती हैं। इनकी क्षमता एक्सरे एवं लेसर आदि किरणों से भी अधिक मानी जाती है। वे संकल्प से परिचालित एवं नियन्त्रित होती हैं। वे कठोर से कठोर अवरोधों को पार करके सुनिर्दिष्ट स्थानों में जा सकती हैं। आज्ञाचक्र की सूक्ष्म विद्युत् तरंगों द्वारा परोक्ष जगत् का साक्षात्कार भी हुआ करता है।

२. इस चक्र में स्थित विद्युत् तरंगें केवल परोक्ष जगत् का साक्षात्कार ही नहीं करातीं; प्रत्युत इनकी सहायता से किसी भी व्यक्ति की मन:स्थिति— भावना, कल्पना, इच्छा, आकांक्षा आदि के विषय में यथार्थ अनुमान भी लगाया जा सकता है।

३. अपनी ही नहीं; प्रत्युत इस तृतीय नेत्र की सहायता से दूसरों की अभिरुचि को भी परिवर्तित किया जा सकता है।

४. इस आज्ञाचक्रस्थ तृतीय नेत्र के द्वारा अदृश्य सहायकों (Invisible helpers) भूत, प्रेत एवं पितरों से भी सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है।

५. मनोविज्ञान के प्रयोगों ने सिद्ध किया है कि यह वह केन्द्र है, जिसके द्वारा दिव्य दर्शन, दिव्य श्रवण, दूरदर्शन, भूत-भविष्य का ज्ञान, पूर्वाभास, दूरानुभूति, विचार-सम्प्रेषण जैसे कार्य सिद्ध किये जा सकते हैं।

६. इस केन्द्र से नि:सृत सूक्ष्म भाव-तरंगों द्वारा सम्मोहन जैसे कार्य भी सम्पन्न किये जा सकते हैं।

७. ध्यानयोगी यह मानते हैं कि इसी स्थान पर ध्यान केन्द्रित करने से आत्म-साक्षात्कार, ईश्वरानुभूति एवं आदान-प्रदान आदि कार्य भी सम्पन्न किये जा सकते हैं। इसके माध्यम से सामान्य व्यक्ति भी (इस केन्द्र को जागृत करके) परमसत्ता के साथ एकाकार हो सकता है।

८. नये विकासवादी वैज्ञानिक कहते हैं कि प्राचीन काल में मस्तिष्क के मध्य

---

१. अमनस्कयोग।

दोनों भौंहों के मध्य एक तृतीय नेत्र था; किन्तु बाद में वह ग्रन्थि के रूप में रूपान्तरित हो गया। पीनियल ग्रन्थि तृतीय नेत्र का ही परिवर्तित स्वरूप है। यह ग्रन्थि अपने अन्दर अनन्त रहस्यों को छिपाये हुये है। एक या दो मिलीग्राम की यह विलक्षण रचना शरीर के विकास एवं उसकी हलचलों में बहुत बड़ी भूमिका निभाती है।

९. ध्यानयोग की क्रिया में विभिन्न ध्यानकेन्द्रों को जागृत करने के लिए भी इस केन्द्र पर ध्यान एकाग्र किया जाता है।

१०. यदि केन्द्र असन्तुलित हो जाय तो असमय शारीरिक प्रौढ़ता का आना, जननांगों का शीघ्रता से बढ़ना, ग्रन्थि के हारमोनों के विकास में अवरोध आना, शरीर-मस्तिष्क का विकास बन्द हो जाना आदि अनेक समस्यायें उत्पन्न हो जाती हैं।

११. वैज्ञानिक शोध ने यह भी सिद्ध किया है कि जीव-जन्तु इस तृतीय नेत्र का उपयोग (अपने दैनिक कार्यों में) उसी प्रकार करते हैं, जैसे सामान्य मनुष्य अपनी दो आँखों का उपयोग करते हैं। वे समय, दिशा, मौसम एवं प्रकृति की अन्य घटनाओं का भी अनुमान इसी केन्द्र से करते हैं।

१२. ठण्ढे रक्त वाले प्राणियों में इस केन्द्र की कोशिकायें थर्मोस्टेट का काम करती हैं और शरीर का तापक्रम सन्तुलित रखने हेतु (जैसे कि गर्मी में ठण्ढे एवं ठण्ढक में गर्म स्थानों में जाकर तापक्रम नियन्त्रण में रखने हेतु) भी इसी केन्द्र से निर्देश प्राप्त होते हैं।

१३. पश्चिमी जर्मनी के वैज्ञानिक शोध सिद्ध करते हैं कि यह केन्द्र (तृतीय चक्षु) कुतुबनुमा का भी कार्य निष्पादित करता है। पशु-पक्षी इसी कुतुबनुमा द्वारा दिशा का अनुमान लगाते हैं। पृथ्वी-चुम्बकत्व एवं जैव चुम्बकत्व— दोनों के तरंगों की गति समान है। इसी के द्वारा साइबेरिया के आव्रजक पक्षी आस्ट्रेलिया आकर पुनः साइबेरिया लौट जाते हैं। मानव में यह अंग निरर्थक हो गया है; किन्तु योग से इसे जागृत करके इसकी विलक्षण क्षमताओं को प्राप्त किया जा सकता है।

कवि गेटे को इस केन्द्र की शक्ति जाग्रत हो गई तो उन्होंने देखा कि मेरे स्थान वाइम्नर से हजारों मील सुदूर सिसली में एक भयानक भूकम्प आया है। उसने इस बात को अपने मित्रों को बताया। किसी ने विश्वास तो नहीं किया; किन्तु समाचारपत्रों से पता चला कि घटना सही थी।

नैन्सी नामक अंग्रेज महिला ने जिन्ना की पारसी पत्नी द्वारा आत्महत्या कर लेने एवं पूर्वी पाकिस्तान के टूट कर पृथक् होने की जो भविष्यवाणी की थी, उस पर किसी ने विश्वास तो नहीं किया; किन्तु बाद में वह घटना घटी।

१४. आज्ञाचक्रगत शाम्भवी मुद्रा लगाने या भ्रूमध्य में ध्यान लगाने से पूर्वजन्मों

में किये गये कर्मों का भी स्मरण हो जाता है—

ध्यानयोगनिरतस्य जायते पूर्वजन्मकृतकर्मणां स्मृतिः।[१]

१५. आज्ञाचक्रवर्तिनी शाम्भवी मुद्रा या भ्रूमध्य ध्यान से दूरदर्शन एवं दूरश्रवण नामक सिद्धियाँ भी प्राप्त हो जाती है—

क्षेत्रबिन्दुनिलये च दूरतो दर्शनश्रवणयोः समर्थता।[२]

१६. शाम्भवी मुद्रागत इस ध्यान द्वारा प्रतिमा में स्थित देवी-देवता से वार्तालाप भी होता है—

इह सन्निहितस्वचित्तवृतिः प्रतिमायाः प्रतिजल्पनं करोति।

१७. भ्रूद्वय के मध्य में निरालम्बा मुद्रा लगाने पर योगी स्वर्ग एवं नक्षत्रसमूह को देखता है और साथ ही वह विष्णु के पद्माकाश को भी देखता है—

निरालम्बां मुद्रां निजगुरुमुखेनैव विदितामिह
स्थाने कृत्वा स्थिरनिशितधीः साधकवरः।
सदाभ्यासोऽश्वस्यत्यमरनिलयानन्तरखिला-
नुडुश्रेणीं विष्णोरपि पदमुडूनामपि पतिम्।।[३]

१८. यहाँ ध्यान लगाने वाला योगी समस्त देववन्दित ब्रह्मा एवं विष्णु को, प्रेताधिप, वारिप, देवाधिप, देवनिकाय, सूर्य, वह्नि, पवन, तार्क्ष्य, यक्षेश्वर, गन्धर्व, किन्नर, सिद्ध-समूह, यक्ष, राक्षस, अनेक भव्याकृतियाँ, दिव्य दृश्य, कान्तिकलाकलापकलित विद्याधर, मातृका, राक्षस, उत्तुंग तरंग वाली तथा जलमयी कल्लोलिनी (स्वर्ग गंगा), स्वर्ण पर्वत, उत्तुंग पीवरपयोधरभार से नम्र (झुकी हुई) अप्सराओं का समूह, पर्वत, विभिन्न दिशायें, कुरंगादि शोभित रमणीय अरण्य, जलहस्ती, राजहंस, वकपंक्ति, नवीन मेघ, विद्युत्, महान् सुख एवं परमेश्वर आदि सभी को देखता है— 'स्थानेऽस्मिन् परमेश एष भगवान् व्यक्तो भवत्यव्ययः' और वह योगी वेदान्तवेद्य पुराणपुरुष में लयीभूत हो जाता है—

दीव्यन्तं परमं पुराणपुरुषं वेदान्तवेद्यं कविम्।
विश्वाद्यं प्रविशन्ति सन्ततमहानन्दैककन्दं विभुम्।।[४]

१९. इस परम तेजस्वरूप आज्ञाचक्र को देखने पर परमोत्कृष्ट सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं—

चिन्तयित्वा परां सिद्धिं लभते नात्र संशयः।[५]

२०. इस स्थान का ध्यान करने से पूर्व जन्म के सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं—

पूर्वजन्मकृतं कर्म विनश्येदविरोधतः।

---

१. त्रिपुरासारसमुच्चय (नागभट्ट)।
२. त्रिपुरासारसमुच्चय।
३. त्रिपुरासारसमुच्चय।
४. त्रिपुरासारसमुच्चय।
५. शिवसंहिता।

यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, अप्सरा एवं किन्नर आदि उसके वशीभूत होकर उसके चरणों की सेवा करते हैं।

यक्षराक्षसगन्धर्वा अप्सरोरगकिन्नराः।
सेवन्ते चरणं तस्य सर्वे तस्य वशानुगाः।।

जो इस पद्म का स्मरण करता हुआ प्राणत्याग करता है, वह परमात्मा में विलीन हो जाता है—

त्यजेत् प्राणं स धर्मात्मा परमात्मनि लीयते।

शिवसंहिता में शाम्भवी मुद्रा का सर्वाधिक महत्त्वांकन करते हुए उसे कुलवधू एवं उनकी तुलना में वेदों, शास्त्रों एवं पुराणों को वेश्या कहा गया है—

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव।
इयं तु शाम्भवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव।।[१]

शाण्डिल्योपनिषद् (१.४८) में कहा गया है कि इड़ा नाड़ी से वायु को आकृष्ट करके भ्रूमध्य में धारण करने पर जो अमृत-क्षरण होता है, उसका पान करके साधक रोगनिवृत्त हो जाता है—

आत्मन्यात्मानमिडया धारयित्वा भ्रुवोन्तरे।
विभेद्य त्रिदशाहारं व्याधिस्थोऽपि विमुच्यते।।

आसन एवं प्राणायाम के अभ्यास में आज्ञाचक्र की साधना

आसन एवं प्राणायाम के अभ्यास में भी आज्ञाचक्र की साधना का विधान है। गोरक्ष-पद्धति (१.११) में कहा गया है कि सिद्धासन में भ्रूमध्य दृष्टि रखकर साधना करनी चाहिये। सिद्धासन में भ्रूमध्य में दृष्टि रखकर ही जप करने का विधान किया गया है—

बद्धपद्मासनो योगी नमस्कृत्य गुरुं शिवम्।
भ्रूमध्ये दृष्टिरेकाकी प्राणायामं समभ्यसेत्।।

भ्रूमध्य का स्थान सोम (इड़ा), सूर्य (पिंगला) एवं अग्नि (कुण्डलिनी) का संगम है; इसीलिये इसे त्रिकूट पर्वत भी कहा गया है।

वाराहोपनिषद् (५.६३) के अनुसार जब नासापुटद्वय से समाकृष्ट वायु को सोम-सूर्याग्नि-सम्बन्ध से कुण्डल्यग्नि आज्ञाचक्र में ग्रस लेती है, तब प्राणादि के लय हो जाने पर जो स्फूर्ति प्राप्त होती है, वह अमृतप्रदा होती है—

पुटद्वयं समाकृष्य वायुः स्फुरति सत्वरम्।
सोमसूर्याग्निसम्बन्धात् जानीयादमृताय वै।।

ध्यानबिन्दूपनिषद् (३८.४०) में कहा गया है कि भ्रूमध्य ब्रह्मोपलब्धि का मूल

---

१. शिवसंहिता (३.६०)।

स्थान होने के कारण ब्रह्मायतन एवं अमृतस्थान है। इसीलिये उसमें यहीं पर प्राणालय का विधान किया गया है।

यहाँ कहा गया है कि जिस प्रकार मनुष्य पद्मनाल की सहायता से धीरे-धीरे जल पीने के लिए ऊर्ध्वाकर्षण करता है, उसी प्रकार योगी मूलाधार में अपान के साथ ऐक्य-भावापन्न वायु को ऊर्ध्वमुखी बनाकर सुषुम्णा मार्ग से अनाहतपाथोज से होकर भ्रूमध्य में ले जाय एवं वहीं उसे लयीभूत कर दे—

यथैवोत्पलनालेन तोयमाकर्षयेन्नरः।
तथैवोत्कर्षयेद् वायुं योगी योगपथे स्थितः।।

अर्धमात्रात्मकं कृत्वा कोशमूलं तु पङ्कजम्।
कर्षयेन्नालमात्रेण भ्रुवोर्मध्ये लयं नयेत्।।

भ्रूमध्ये ललाटे तु नासिकायास्तु मूलतः।
जानीयादमृतस्थानं तद् ब्रह्मायतनं महत्।।

योगकुण्डल्योपनिषद् (३.७-८) में कहा गया है कि बैन्दवस्थान में केवल कुम्भक के द्वारा प्राणरोध किया जाना चाहिये।

शाण्डिल्योपनिषद् (१.७.३४) में कहा गया है कि तारकयोग के अभ्यास से भ्रूमध्य में तारक ज्योति के दर्शन होने पर चित्तवृत्ति के शान्त हो जाने पर प्राणस्पन्दन निरुद्ध हो जाता है।

घेरण्डसंहिता (५.८२) में कहा गया है कि कुम्भक प्राणायाम के अभ्यास में मन को भ्रूमध्य में केन्द्रित करने से मन मूर्च्छित होकर वृत्तिशून्य हो जाता है। इसे मनोमूर्च्छा कुम्भक प्राणायाम कहा जाता है और यह योगियों को भी आनन्द प्रदान करता है—

सुखेन कुम्भकं कृत्वा मनश्च भ्रुवोरन्तरे।
सन्त्यज्य विषयान् सर्वान् मनोमूर्च्छा सुखप्रदा।।

आज्ञाचक्र को खेचरगति, अमृतक्षरण, प्राण एवं मन का निरोध, मन का केन्द्र, ॐकार का स्थान, दिव्यदृष्टि एवं सम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति का केन्द्र होने के कारण योगशास्त्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता है। इसके अनेक साधना-केन्द्र हैं—

१. नाभि एवं उसके नीचे के केन्द्र— ऐन्द्रिय बोध एवं शारीर चेतना के केन्द्र।

२. हृदयस्थ अनाहत चक्र— भावप्रधान साधना के लिये उपयुक्त केन्द्र।

३. अनाहत एवं आज्ञाचक्र— चेतना के ऊर्ध्वारोहण हेतु हृदय एवं उसके ऊर्ध्ववर्ती केन्द्रों का अभ्यास किया जाता है।

४. धारणा, ध्यान, मनोलय, ॐकारोपासना हेतु ज्ञानमार्गियों का यही साधनाकेन्द्र है।

जब कुण्डलिनी शक्ति भ्रूमध्य में प्रवेश कर जाती है तब तालुचक्रस्थित चन्द्रमा

से अमृतक्षरण होता है, जिनका पान खेचरी मुद्रा द्वारा किया जाता है।

भैरवी तन्त्र में कहा गया है कि योगी पद्मासन लगाकर बैठे, नेत्रों को यत्किञ्चित् संकुचित करके भौंहों को भी थोड़ा सिकोड़े, दृष्टि एवं मन को भ्रूमध्य में स्थिर करे, मूलाधारस्थ कुण्डलिनी शक्ति को सुषुम्णा मार्ग से भ्रूमध्य में लाकर वहाँ समासीन देवता (अर्धनारी-नटेश्वर) के साथ युक्त कर दे, वाम नासा के मार्ग से शनैः-शनैः वायु को आकर्षित करके भ्रूमध्य में धारण करे और फिर दक्षिणवर्ती नासिका के मार्ग से रेचन क्रिया करे। यही अन्तर्याग है—

वामेनानिलमाकृष्य किञ्चिदाकुञ्चयेद् भ्रुवम्।
रेचयेद् भानुमार्गेण जिह्वां तालुगतां चरेत्।।
शक्तिं शिवपदे योज्य किञ्चिदाकुञ्चितेक्षणम्।
अन्तर्यागमिदं देवि! कथितं गुरुभिः क्रमात्।।

योगशिखोपनिषद् (५.५५) में कहा गया है कि जितेन्द्रिय योगयुक्त योगी आकाश (भ्रूमध्य से मूर्धापर्यन्त) में चित्त को धारण करने से अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त कर लेता है।

दर्शनोपनिषद् (७.१०-१२) एवं शाण्डिल्योपनिषद् (१.८.२) में कहा गया है कि वायु-धारणात्मक प्रत्याहार-साधना में भ्रूमध्य भी वायु-धारण करने का एक केन्द्र है। प्रत्याहार के इस विधान में— स्वस्तिकासन में निश्चल भाव से समासीन होना, दोनों नासापुटों द्वारा वायु को आकर्षित करना, शरीर को आपादमस्तक वायु से परिपूरित करना, फिर आरोहावरोह क्रम से वायु को धारण करना पड़ता है।

५. आरोहक्रम में दोनों पैर, मूलाधार, नाभिकन्द, हृदय, कण्ठमूल, तालु, भ्रूमध्य, ललाट एवं मूर्धा में वायु धारण की जाती है।

५. अवरोहक्रम में मूर्धा, ललाट, भ्रूमध्य आदि से नीचे आते हुये पादद्वय में आकर वायु-धारण समाप्त की जाती है।

योगतत्त्वोपनिषद् (९८.१०२) में कहा गया है कि भ्रूमध्य से ऊर्ध्वप्रदेश में आकाश तत्त्व की धारणा की जाती है।

●

मुद्रातत्त्व एवं साधना

मुद्रा

स्वरोदय शास्त्र में मुद्राप्रयोग का भी विधान है। इसमें सर्पमुद्रा का उल्लेख करते हुए कहा गया है—

आदौ तु क्रियते मुद्रा पश्चात् युद्धं समाचरेत्।
सर्पमुद्रा कृता येन तस्य सिद्धिर्न संशयः।।

इस प्रकार शिवस्वरोदय में युद्ध के पहले मुद्रा-ग्रहण का विधान किया गया है।

कुलार्णवतन्त्र में कहा गया है कि चूँकि यह साधनात्मिका क्रिया देवताओं को आह्लादित करती है और उनके मन को द्रवित करने की क्षमता रखती है; इसीलिए इसे मुद्रा कहा जाता है और इसे अवश्य प्रदर्शित करना चाहिए—

मुदं कुर्वन्ति देवानां मनांसि द्रावयन्ति च।
तस्मान्मुद्रा इति ख्याता दर्शितव्या कुलेश्वरि।।

ऋजुविमर्शिनी-टीका में शिवानन्द ने मन्त्र एवं मुद्रा को ज्ञान एवं क्रिया से सम्बद्ध माना है। वे कहते हैं— 'मन्त्रमुद्राशब्देन ज्ञानक्रिये लिलक्षयिषिते।'

सुभगोदयवासना (३५) में भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए कहा गया है—

ज्ञानक्रियासतत्त्वेन मन्त्रमुद्राक्रमेण तु।

शिवानन्द कहते हैं कि मन्त्र एवं मुद्रा ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति के रूपान्तर हैं। स्वच्छन्दतन्त्र (४.३७५) में इसी तत्त्व की सुस्पष्ट रूप में पुष्टि भी की गई है—

मन्त्रो वै ज्ञानशक्तिश्च मुद्रा चैव क्रियात्मिका।

नेत्रतन्त्र में भी आत्मस्वरूपाभिव्यक्ति के साधनत्रय में मुद्रा को भी एक साधन माना गया है। ये साधनत्रय हैं— मन्त्र, ध्यान एवं मुद्रा।

शिवस्वरोदय में अरुन्धती, ध्रुव, विष्णुपद तथा मातृमण्डल आदि का भी वर्णन किया गया है; जिनका सम्बन्ध मुद्रा एवं धारणा से है; यथा—

अरुन्धती = जिह्वा का अग्र भाग। ध्रुव = नासिकाग्रभाग (अगोचरी मुद्रा)। विष्णुपद = भृकुटिद्वय। तारा = चक्षुपुत्रिका (मातृमण्डल)।

अरुन्धती भवेज्जिह्वा ध्रुवो नासाग्रमेव च।
भ्रुवो विष्णुपदं ज्ञेयं तारकं मातृमण्डलम्।।

शिवस्वरोदय में षण्मुखी मुद्रा का भी विधान किया गया है।

शिवानन्द 'मुद्रा' शब्द की व्याख्या करते हुए इसको इस प्रकार पारिभाषित करते हैं कि ये ग्रहादि के दुष्परिणामों से रक्षा करती हैं और पापसमूह को विगलित करती हैं, द्रावण करती हैं; अत: 'मुद्रा' कहलाती हैं— मुद्रा नाम काश्चन शक्तय:। उक्तं च—

मोचयन्ति ग्रहादिभ्य: पाशौघं द्रावयन्ति च।
मोचनं द्रावणं यस्मान्मुद्रास्ता: शक्तयो मता:।।[1]

मोचन एवं द्रावण नामक व्यापारों से युक्त क्रिया ही मुद्रा है।

आचार्य शिवानन्द की दृष्टि— मन्त्रादि की साधना के काल में उँगलियों का विशिष्ट सन्निवेशमात्र ही मुद्रा नहीं है, प्रत्युत इन मुद्राओं के प्रदर्शन से इन मुद्राओं से सम्बद्ध शक्तियों का जो आविर्भाव होता है, वह भी 'मुद्रा' पद के अर्थ में सन्निविष्ट है।

तन्त्रालोक (३२.१-२) में श्रीदेवीयामल के प्रमाण के आधार पर यह प्रतिपादित किया गया है कि मुद्राओं में परमात्मा या परा शक्ति का परस्वरूप प्रतिबिम्बित रहता है। चूँकि मुद्रा देह के माध्यम से साधक को आत्मा के स्वस्वरूपरूप 'मुदा' प्रदान करती है; अत: इसे 'मुद्रा' कहा जाता है—

मुदं स्वरूपलाभाख्यं देहद्वारेण चात्मनाम्।

मुद्रा के कार्य— मुद्रा के तीन कार्य होते हैं—

१. नाड़ियों का शोधन।
२. चन्द्रमा एवं सूर्य (अपान एवं प्राण) का चालन।
३. रसना का शोषण (सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृत का पान)।

शोधनं नाड़िजालस्य चालनं चन्द्रसूर्ययो:।
रसनाशोषणं कुर्यान्महामुद्राऽभिधीयते।।[2]

'शिवसंहिता' में कहा गया है कि मुद्रा बन्धन का अभ्यासारम्भ करने के पूर्व आधार-पद्म में मन को वायु के साथ लगाना एवं भरना चाहिए—

आदौ पूरकयोगेन स्वाधारे पूरयेन्मन:।

मुद्रासाधन का फल— जो मुद्रासाधन करते हैं; उन्हें निम्न फल प्राप्त होता है—

१. वृद्धावस्था नहीं आती।
२. मृत्यु का भय जाता रहता है।
३. अग्नि, जल एवं पर्वत का भी भय नहीं रहता।

तस्य नो जायते मृत्युर्नास्य जरादिकं तथा।
नाग्निजलभयं तस्य वायोरपि कुतो भयम्।।

---

१. नित्याषोडशिकार्णव। २. विवेकमार्तण्ड।

मुद्रा-साधक को निम्न लाभ भी होते हैं—

कासः श्वासः प्लीहकुष्ठं श्लेष्मरोगाश्च विंशतिः।
मुद्राणां साधनाच्चैव विनश्यन्ति न संशयः।।

अर्थात् मुद्रा-साधकों को कास रोग, श्वास रोग, प्लीहा रोग, कुष्ठ रोग एवं श्लेष्मा रोग नहीं होते।

मुद्रायें सभी सिद्धों को अत्यन्त प्रिय रही हैं और ये जरा-मरण की नाशिका हैं—

वल्लभं सर्वसिद्धानां जरामरणनाशनम्।

घेरण्ड ऋषि तो कहते हैं कि पृथ्वीमण्डल में मुद्रा के समान सिद्धिप्रद और कोई नहीं है—

नास्ति मुद्रासमं किञ्चित् सिद्धिदं क्षितिमण्डले।

किन्तु मुद्रा प्राप्त करने के अधिकारी सभी लोग नहीं हुआ करते। इसके अधिकारी तो केवल निम्न अधिकार प्राप्त व्यक्ति ही होते हैं—

१. ऋजुप्रकृति
२. शान्तचित्त
३. गुरुभक्त
४. कुलीन

ऋजवे शान्तचित्ताय गुरुभक्तिपराय च।
कुलीनाय प्रदातव्यं भोगमुक्तिप्रदायकम्।।

शिवसंहिता में इसे गोपनीय, योगसिद्धिकर और सिद्धों का परम दुर्लभ योग कहा गया है—

अधुना कथयिष्यामि योगसिद्धिकरं परम्।
गोपनीयं सुसिद्धानां योगं परमदुर्लभम्।
रात्यर्पयति यत्तेन मुद्रा शास्त्रेषु वर्णिता।।

योगिनीहृदय (१.५७) में कहा गया है कि भगवती संवित् शक्ति ही क्रियाशक्ति के स्वरूप में जगत् का मोदन एवं द्रावण नामक द्विविध व्यापार निष्पादित करती हुई 'मुद्रा' कहलाती हैं—

क्रियाशक्तिस्तु विश्वस्य मोदनाद् द्रावणात्तथा।
मुद्राख्या सा यदा संविदम्बिका त्रिकलामयी।।

द्रावण = द्रावणं नाम तदेकरसीभावः। दीपिकाकार कहते हैं—

यदा विमर्शशक्तिः विश्वरूपेण विहर्तुमिच्छति तदा क्रियाशक्तिर्भूत्वा स्वविकारभूतस्य विश्वस्य परचिदानन्दलक्षणेन मोदनेन तदैकरस्यलक्षणेन द्रावणेन च मुद्राख्यामापन्नेत्यर्थः।

भाव यह है कि विमर्शशक्ति ही क्रियाशक्ति का स्वरूप धारण करके परचिदानन्दात्मक आनन्द के द्वारा तथा ऐकरस्यस्वरूप द्रावण के द्वारा 'मुद्रा' नामक आख्या ग्रहण कर लेती है।

द्रावण क्या है? तदैकरस्यं द्रावणम् (सेतुबन्ध में उद्धृत)।

आचार्य विद्यानन्द ने अर्थरत्नावली में मुद्रा के दो भेद किए हैं— बाह्य, कररचनास्वरूपा एवं आन्तर, बन्धस्वरूपा।

'खेचरी' भी एक मुद्रा है। शिवानन्द ने उसके तीन भेद उद्घाटित किए हैं—

उँगलियों के सन्निवेश या विरचनाविशेष द्वारा सुनिर्मित, बोधगगनचारिता एवं संस्थान-विशेषानुसरणरूपा।

स्वच्छन्दागम में तो सभी मुद्राओं के तीन स्वरूप स्वीकार किये गए हैं। आचार्य क्षेम-राज भी इसी की पुष्टि में कहते हैं—

मनोजा गुरुवक्त्रस्था वाग्भवा मन्त्रसम्भवा।
देहोद्भवाङ्गविक्षेपैर्मुद्रेयं त्रिविधा स्मृता।।

तन्त्रालोक में मुद्रा को चतुर्विध घोषित किया गया है। जयरथ ने इसकी व्याख्या के प्रसंग में कहा है—

अङ्गुलिन्यासभेदेन करजा बहुमार्गगा।
सर्वावस्थास्वेकरूपा वृत्तिर्मुद्रा च कायिकी।।

मन्त्रतन्मयता मुद्रा विलापाख्या प्रकीर्त्तिता।
ध्येयतन्मयता मुद्रा मानसी परिकीर्तिता।।

मुद्राओं के जो दो भेद हैं; उनमें उंगलियों के सन्निवेशविशेष से निर्मित मुद्राओं का अनेक नामों, अनेक प्रकारों, अनेक स्व-स्वरूपों एवं अनेक शास्त्रों में सविस्तार वर्णन किया गया है। इनमें बन्धस्वरूपा या संस्थान-विशेष का अनुसरण करने वाली ये क्रियायें मुद्रा एवं बन्ध दोनों नामों से हठयोगप्रदीपिका आदि अनेक योगग्रन्थों में सविस्तार वर्णित हैं।

खेचरी आदि मुद्राओं का सविस्तार विवेचन त्रिकदर्शन में भी प्राप्त होता है। मालिनी-विजयोत्तरतन्त्र (सप्तमोऽधिकार) में कहा गया है कि मुद्रायें शिव-शक्ति के स्वरूपान्तर हैं—

अथात: सम्प्रवक्ष्यामि मुद्राख्या: शिवशक्तय:।

मालिनीविजयोत्तर तन्त्र में ही मुद्राओं के भेद एवं उनके नाम भी कहे गये हैं।

मुद्रासम्बन्धिनी दार्शनिक दृष्टि— तान्त्रिक दर्शनों के अनुसार शिव की शक्ति ही शारीर-चेष्टाओं के रूप में प्रकट होती है। अतएव मुद्रा शिव-शक्ति की आख्या है। अभिनव-गुप्तपाद ने तन्त्रालोक में मुद्रा के अनेक प्रकारों का उल्लेख किया है; यथा— मनोजा मुद्रा (गुरुमुख-श्रव्य), वाग्भवा मुद्रा, मन्त्रजा मुद्रा। देह के विक्षेप से मुद्रा के अनेक भेद हो जाते हैं।

देवाख्ययामल में मुद्रा को विम्ब (चैतन्य) का प्रतिविम्ब माना गया है। जब शरीर में श्रम की स्फुरणा होती है तब शरीर में कुछ विचित्र परिवर्तन होते हैं और ये परिवर्तन

ही मुद्रायें हैं। अत: मुद्रा से विम्ब का उदय हो सकता है—

१. मुद्राबिम्बोदयो नाम्ना। (तन्त्रालोक आ०-३२)

२. प्रतिबिम्बोदयो मुद्रा। (तन्त्रालोक)

३. बिम्बात्समुदयो यस्या इत्युक्ता प्रतिविम्बिता।
विम्बस्य यस्या उदय इत्युक्ता तदुपायता।। (तन्त्रालोक)

मुद्रा ब्रह्म को जानने का साधन है।

मुद्रा की दूसरी व्याख्या यह है कि मुद्रा वह पद्धति है, जिससे देवता भी द्रवित हो उठते हैं। देवता मुद्राप्रदर्शन से प्रसन्न हो उठते हैं। यह अशेष पाशों से मोचन (मुक्ति) कराती है; इसलिए भी यह मुद्रा है—

१. इत्याशयेन मुद्रा मोचयते पाशजालतोऽशेषात्।
कार्याय यान्पुर्यष्टकसंस्कारान्द्रावयेत्तथा।। (तन्त्रालोक)

२. यह स्वरूपोद्घाटन कराती है, स्वरूपलाभ कराती है; इसलिए भी मुद्रा कहलाती है—

मुदं स्वरूपलाभाख्यं देहद्वारेण चात्मनाम्।
रात्यर्पयति यत्तेन मुद्रा शास्त्रेषु वर्णिता।।

(मु = स्वरूपलाभ। द = शरीर द्वारा। राति = प्रदान करता है। मोदयति इति मुद्रा। द्रावयति इति मुद्रा।)[१] मुद्राओं में मुख्य मुद्रा खेचरी मुद्रा है। त्रिशूलिनी, क्रोधना, भैरवी, महाप्रेता, ज्वालिनी, करिङ्कणी, क्षोभिणी, ध्रुवा, योगमुद्रा एवं लेलिहानिका आदि अनेक मुद्रायें हैं। शरीर की दृष्टि से देखें तो काममुद्रा, करमुद्रा, वाक् मुद्रा एवं चित्तमुद्रा आदि अनेक मुद्रायें हैं। वाणीमुद्रा मन्त्रोच्चारण से सम्बन्ध रखती है। चितमुद्रा का अर्थ अन्त:-करण में प्रवेश है। करमुद्रा अङ्गुलियों की विविधात्मक न्यासपद्धति है। काममुद्रा शरीर को एक स्थिति में स्थापित करने की प्रक्रिया है।

मुद्रा में मानसिक स्थिति— योगी मूलाधार से शक्ति को उद्रिक्त करके नाभिदेश में मन को निविष्ट करता है। उसे चाहिए कि वह वहीं पर मन को बार-बार अवरुद्ध करके इड़ा एवं पिंगला की वायु को मध्य मार्ग में समाविष्ट करे। बिन्दु, नाद एवं ब्रह्मरन्ध्र नामक तीनों आकाशों तक प्राण को ले जाकर कुम्भक के द्वारा प्राण को रोककर पुन: शक्ति (व्यापिनी की पूर्व स्थिति), व्यापिनी एवं समना— इन तीन आकाशों को अतिक्रान्त करके उन्मना-वस्था की दिशा में अग्रपद होना चाहिए और अन्तत: परम शिव में लयीभूत हो जाना चाहिए।[२]

द्वितीय पद्धति यह है कि नाद, बिन्दु, वायु एवं ब्रह्मरन्ध्र की क्रमिक स्थिति में आरोहण करना चाहिए। मूलाधार चक्र से नाद, बिन्दु एवं शक्ति— इन तीनों आकाशों में मन को

१. अभिनवगुप्तपाद : तन्त्रालोक।

२. यही गगनचारित्व एवं परमव्योम की स्थिति है।

सन्निविष्ट करके और पुनः इनका वेधन करके शिवत्व की सम्प्राप्ति करनी चाहिए—

ध्वनिज्योतिर्मरुद्युक्तं चित्तं विश्रम्य चोपरि।
अनेनाभ्यायोगेन शिवं भित्वा परं व्रजेत्।।[1]

त्रिशूलिनी मुद्रा— दोनों हाथों को कण्ठ के नीचे स्थापित करके वाम चरण को दक्षिण चरण पर स्थापित करना चाहिए। कनिष्ठिका एवं मध्यमा से नासिका के छिद्रों को विदीर्ण करना चाहिए और अनामिका तथा तर्जनी से भ्रूभंग को कुञ्चित करना चाहिए तथा मन्त्र पढ़ते हुए जिह्वा का चालन करते हुए 'हा हा हा हा' करना चाहिए।

यदि ब्रह्मरन्ध्र में इस त्रिशूल मुद्रा का प्रयोग किया जाय तो योगी पृथ्वी छोड़ देता है और रस में सम्मिलित रस की भाँति शिव में लीन हो जाता है।

खेचरी मुद्रा निष्कला मुद्रा है। अनेक मुद्रायें इसी के विभिन्न प्रकार हैं। आवेशरहित मुद्रा यथार्थ मुद्रा नहीं है। देह का विकार भी मुद्रा नहीं है। निष्कलावस्था में स्थित योगी खेचरी मुद्रा में स्थित रहता है।

स्वरोदय शास्त्र और मुद्रा

'शिवस्वरोदय' स्वरोदयशास्त्र का ग्रन्थ है। उसमें अनेक मुद्राओं के ग्रहण करने का विधान किया गया है। उसमें षण्मुखी मुद्रा की पद्धति का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि मुख, नासिका, नेत्र, कान को अपनी अंगुलियों से बन्द करके सक्रिय तत्त्व के प्रति जागरूकता उत्पन्न करनी अर्थात् तत्त्वों को उदित करना ही षण्मुखी मुद्रा कहलाता है—

मुखनासाक्षिकर्णान्तानङ्गुलीभिर्निरोधयेत् ।
तत्त्वोदयमिति ज्ञेयं षण्मुखीकरणं प्रियम्।।[2]

शिवस्वरोदयोक्त मुद्रायें हैं— सर्पमुद्रा (२३९), षण्मुखी मुद्रा (३८२), अगोचरी आदि एवं धारणायें हैं— अरुन्धती, ध्रुव, विष्णुपद, मातृमण्डल आदि।

इसमें कहा गया है कि सर्वप्रथम मुद्रा का ग्रहण करना चाहिए– 'आदौ तु क्रियते मुद्रा'। इसे युद्ध करने के पूर्व धारण करना अनिवार्यवत् माना गया है; क्योंकि कहा भी गया है—

आदौ तु क्रियते मुद्रा पश्चाद्युद्धं समाचरेत्।।

तान्त्रिक बौद्धसाधना और मुद्रा

तान्त्रिक बौद्ध जिसे 'मुद्रा' कहते हैं, वह शक्ति का ही बाह्य रूप या उसकी बाह्याभिव्यक्ति है। इसके चार प्रकार हैं— कर्ममुद्रा, धर्ममुद्रा, महामुद्रा एवं समयमुद्रा।

गुरु-दीक्षा लेने के बाद साधक को साधना हेतु प्रज्ञा ग्रहण करनी पड़ती है। प्रज्ञा ही

---

१. तन्त्रालोक। २. शिवस्वरोदय (३८२)।

मुद्रा या नायिका है। यह विवाह जैसी क्रिया है। इसके पश्चात् अभिषेक की क्रिया सम्पन्न की जाती है। फिर साधक एवं मुद्रा दोनों मण्डल में प्रविष्ट होते हैं और योगक्रिया निष्पन्न की जाती है।

कर्ममुद्रा— यह एक प्रारम्भिक क्रिया है। कर्म पद काय, वाक् एवं चित्त की चिन्तादि रूप क्रिया है। इस मुद्रा के अन्तर्गत क्षण के चार भेद एवं आनन्द की चार श्रेणियाँ अन्तर्भुक्त हैं। उन चार क्षणों के नाम हैं— विचित्र, विपाक, विलक्षण और विमर्द।

धर्ममुद्रा— यह धर्मधातुस्वरूप है। यह सहजस्वभाव है और प्रवाह की दृष्टि से नित्य है। इस मुद्रा में अज्ञान एवं भ्रान्ति पूर्णतया निवृत्त हो जाती है। मध्य नाड़ी = सुषुम्णा नाड़ी = ब्रह्मनाड़ी ही ज्ञान एवं योग का मार्ग है। आगमिक बौद्ध दर्शन इड़ा-पिंगला को 'प्रज्ञा' एवं 'उपाय' कहकर इसी सुषुम्णा नाड़ी को 'अवधूती' कहता है और इसका ही नामान्तर है—धर्ममुद्रा। प्रज्ञा और उपाय की सूचक नाड़ियों को बौद्ध 'ललना' एवं 'रसना' कहते थे। तथता के अवतरण का यह उत्कृष्ट मार्ग है। यही 'मध्यमा प्रतिपत्' भी है। इसके अभ्यास से निरोध का साक्षात्कार होता है। इस मार्ग में ग्राह्य एवं ग्राहक विकल्प निवृत्त हो जाते हैं।

महामुद्रा— महामुद्रा तृतीय मुद्रा है। यह नि:स्वभाव है। यहाँ आवरणों के सारे प्रकार नष्ट हो जाते हैं। यह नभवत् स्वच्छ एवं समस्त सम्पत्तियों का निधान है। यह निर्वाणस्वरूप है। इस अप्रतिष्ठित मानस की अवस्था में अकल्पित संकल्पों का उन्मेष होता है। यह 'अस्मृत्य मनसिकार' नाम वाली पूर्ण निरालम्बावस्था है।

समयमुद्रा— यह तान्त्रिक बौद्ध में चतुर्थ मुद्रा के रूप में स्वीकृत है। यह अचिन्त्य-स्वरूपा मुद्रा है। इस अवस्थाविशेष में विश्वकल्याणार्थ स्वच्छ 'सम्भोग काय' एवं 'निर्माण काय' स्वरूप वाला होकर 'वज्रधर' स्फुरित होता है। तिब्बती बौद्ध इस विश्वकल्याणकारी स्वरूप को 'हेरुक' कहते हैं। समयमुद्रा महामुद्रा का फल है।

योगी गोरक्षनाथ ने भी गोरखबानी (२७५) में अनेक मुद्राओं का उल्लेख किया है; जो कि तत्कालीन योगि-सम्प्रदाय में प्रचलित थीं—

नासिका अग्रे भ्रूमण्डले अहनिस रहिबा थीरं।
माता गरभि जनम न आयबा, बहुरि न पीयवा खीरं।।

'दर्शन' कानों की मुद्रा है। गोरक्षनाथ कहते हैं—

दरसण माई दरसण बाप दससण माहीं आपै आप।
या दरसण का कोई जाणै भेव सो आपै करता आपै देव।।

मुद्राभ्यास का उद्देश्य

योगियों का कथन है कि अनादि सुषुप्ता कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करने के लिए

मुद्राभ्यास करना चाहिए—

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्।
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत्।।

मुद्रासाधना का महत्त्व

ऋषि घेरण्ड कहते हैं कि मुद्रायें इतनी मूल्यवान हैं कि इनकी साधना से समस्त सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। यह ज्ञान परम गुह्य ज्ञान है; अतः इसका उपदेश भी सभी को करना निषिद्ध है। ये मुद्रायें योगियों को परम प्रिय हैं और देवताओं के लिए दुर्लभ हैं—

मुद्राणां पटलं देवि! कथितं तव सन्निधौ।
येन विज्ञातमात्रेण सर्वसिद्धिः प्रजायते।।

गोपनीयं प्रयत्नेन न देयं यस्य कस्यचित्।
प्रीतिदं योगिनां चैव दुर्लभं मरुतामपि।।

ग्रन्थान्तर में भी इसी की पुष्टि की गई है—

मुद्राणां दशकं रूपं ह्येतद्व्याधिविनाशकम्।
देवेशि! कथितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम्।।

वल्लभं योगिनामेतद् दुर्लभं मरुतामपि।
गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरण्डकम्।
कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा।।

सारांश यह कि मुद्रायें व्याधियों को विनष्ट करती हैं और दिव्य ऐश्वर्यों (अणिमा। लघिमा, गरिमा, महिमा, प्राप्ति, ईशित्व, वशित्व, प्राकाम्य आदि) को प्राप्त कराती हैं। ये परम गोपनीय हैं और देवों को भी अप्राप्य हैं।

मुद्राभ्यास की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भारतीय दर्शनशास्त्रों में सांख्यदर्शन प्राचीनतम दर्शन है, जो कि बुद्ध के आविर्भाव से भी पूर्व था। कपिल इसी सांख्य दर्शन के उद्भावक थे। स्वयं कपिल ऋषि भी मुद्राओं का अभ्यास किया करते थे—

महामुद्रां प्रवक्ष्यामि तन्त्रेऽस्मिन् मम वल्लभे।
यां प्राप्य सिद्धा सिद्धिं च कपिलाद्याः पुरागताः।।

मुद्राओं के प्रकार

हठयोगप्रदीपिका में मुद्राओं के निम्नांकित प्रकार बताए गए हैं—

१. महामुद्रा ३. महावेध ५. उड्यान ८. विपरीतकरणी ९. वज्रोली
२. महाबन्ध ४. खेचरी ६. मूलबन्ध ७. जालन्धरबन्ध १०. शक्तिचालन

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी।
उड्यानं मूलबन्धश्च बन्धो जालन्धराभिध:।।

करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम्।
इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम्।।

घेरण्डसंहिता में मुद्राओं के २५ प्रकार बताए गए है; जो निम्नांकित हैं—

१ महामुद्रा	६. महावेध	११. माण्डवी	१६. काकी
२. नभोमुद्रा	७. खेचरी	१२. शाम्भवी	१७. योनि
३. उड्डीयान	८. विरीतकरणी	१३. पञ्चधारणा	१८. मातंगी
४. जालन्धर	९. शक्तिचालिनी	१४. अश्विनी	१९. वज्राली
५. मूलबन्ध	१०. ताड़ागी	१५. पाशिनी	२०. भुजङ्गिनी

इन उल्लिखित मुद्राओं की संख्या तो २० ही है; फिर भी मुद्राओं की संख्या २५ ही कही गई है—

महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलन्धरम्।
मूलबन्धं महाबन्धं महावेधश्च खेचरी।।

विपरीतकरिणी योनि वज्राली शक्तिचालिनी।
ताडागी माण्डवी मुद्रा शाम्भवी पञ्चधारणा।।

अश्विनी पाशिनी काकी मातङ्गी च भुजङ्गिनी।
पञ्चविंशति मुद्रा वै सिद्धिदाश्चेह योगिनाम्।।

मुद्रा की संख्या २५ कहने का कारण यह है कि पञ्चधारणा नामक मुद्रा के ५ भेद हैं; अत: मुद्राओं की कुल संख्या २५ हो जाती है। पञ्चधारणारूप मुद्रा के पाँच भेद हैं— पार्थिवी धारणा, आम्भसी धारणा, वैश्वानरी धारणा, वायवी धारणा एवं नभो धारणा।

शिवसंहिता में मुद्राओं के मात्र १० भेद बताए गए हैं; जो महामुद्रा, महाबन्ध, महा-वेध, खेचरी, जालन्धरबन्ध, मूलबन्ध, विपरीतकरिणी, उड्डियानबन्ध, वज्रोली एवं शक्ति-चालन के नाम से जाने जाते हैं।

हठयोगप्रदीपिका में वर्णित १० मुद्राओं की ही शिवसंहिता में भी यथावत् स्वीकृति है।

मालिनीविजयोत्तर तन्त्र में मुद्राओं के २६ प्रकार बताए गए हैं।

गोरक्षनाथ ने गोरखबानी में मुद्रा का प्रतीकात्मक अर्थ भी ग्रहण किया है। वे कहते हैं कि मैंने चन्द्र एवं सूर्य (इड़ा-पिंगला) नाड़ियों को मूँद लिया अर्थात् सुषुम्णा का मार्ग खोल दिया। यही मेरी मुद्रा है— 'चन्द्र-सूर नीं मुद्रा कीन्हीं' (गो० बा०-११०)।

मालिनीविजयोत्तर तन्त्र के अनुसार मुद्राओं का नाम और उनका स्वरूप निम्नानुसार है—

त्रिशूलं च तथा पद्मं शक्तिश्चक्रं सवज्रकम्।
दण्डदंष्ट्रे महाप्रेता महामुद्रा खगेश्वरी।।

महोदया कराला च खट्वाङ्गं सकपालकम्।
हलं पाशाङ्कुशं घण्टा मुद्गरस्त्रिशिखोऽपरः।।

आवाहस्थापनीरोधा द्रव्यदा नतिरेव च।
अमिता योगमुद्रेति विज्ञेया वीरवन्दिते।।

इनमें त्रिशूल एवं पद्ममुद्रा का स्वरूप इस प्रकार है—

त्रिशूलमुद्रा— तर्जनीमध्यमानामा दक्षिणास्यप्रसारिताः।
कनिष्ठाङ्गुष्ठकाक्रान्तास्त्रिशूलं परिकीर्तितम्।।

पद्ममुद्रा— पद्माकारौ करौ कृत्वा पद्ममुद्रां प्रदर्शयेत्।

शक्तिमुद्रा— सम्मुखौ प्रसृतौ कृत्वा करावन्तरिताङ्गुली।
प्रसृते मध्यमे लग्ने कौमार्यः शक्तिरिष्यते।।

वज्रमुद्रा— कनिष्ठाङ्गुष्ठकौ श्लिष्टौ शेषाः स्युर्मणिबन्धगाः।
वज्रमुद्रेति विख्याता चैन्द्री सन्तोषकारिका।

दण्डमुद्रा— ऊर्ध्वप्रसारितो मुष्टिर्दक्षिणोऽङ्गुष्ठगर्भगः।
दण्डमुद्रेति विख्याता वैवस्वतकुलप्रिया।।

दंष्ट्रामुद्रा— वामतो वक्रगां कुर्याद्वाममुष्टेः कनिष्ठिकाम्।
दंष्ट्रेयं कीर्तिता देवि! चामुण्डा कुलनन्दिनी।।

इन मुद्राओं के प्रदर्शन या प्रयोग से मान्त्रिक की रक्षा होती है और उसे मन्त्रसिद्धि प्राप्त होती है।

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि मुद्राख्याः शिवशक्तयः।
याभिः संरक्षितो मन्त्री मन्त्रसिद्धिमवाप्नुयात्।।[1]

मालिनीविजयोत्तर तन्त्र में २६ प्रकार की मुद्राओं का उल्लेख करते हुए उनके स्वरूप की व्याख्या की गई है। वे निम्नांकित हैं—

१. त्रिशूल	७. दंष्ट्रा	१२. कराला	१७. अंकुश	२२. रोधा
२. पद्म	८. महाप्रेत	१३. खट्वांग	१८. घण्टा	२३. द्रव्यदा
३. शक्ति	९. महामुद्रा	१४. कपाल	१९. त्रिशिख मुद्गर	२४. नति
४. चक्र	१०. खगेश्वरी	१५. हल	२०. आवाह	२५. अमृता
५. वज्र	११. महोदया	१६. पाश	२१. स्थापिनी	२६. योगमुद्रा
६. दण्ड				

१. मालिनीविजयोत्तरतन्त्र।

तन्त्रालोक (३२.५-६) में करंकिणी, क्रोधना, भैरवी, लेलिहानिका आदि मुद्राओं को खेचरी का विस्तार कहा गया है।

१. करङ्किणी : ज्ञानसिद्धों की मुद्रा
२. क्रोधिनी : मन्त्रसिद्धों की मुद्रा
३. भैरवी : मेलापसिद्धों की मुद्रा
४. लेलिहाना : शाक्तसिद्धों की मुद्रा
५. खेचरी : शाम्भवसिद्धों की मुद्रा

→ विज्ञानभैरव, क्रमदर्शन, चिद्गगनचन्द्रिका, महार्थमञ्जरी आदि ग्रन्थों में उल्लिखित।

मुद्रा के १० या २५ भेद

शिवसंहिता/हठयोग प्रदीपिका में प्रतिपादित १० मुद्रायें

महामुद्रा महाबन्ध महावेध खेचरी जालन्धर
मूल विपरीतकरणी उड्डियान वज्रोली शक्तिचालन

गोरक्षशतक के अनुसार ५ मुद्रायें

महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डियानमुद्रा जालधरबन्ध मूलबन्ध

घेरण्ड ऋषि के अनुसार २५ मुद्रायें

महा नभो उड्डियान जालन्धर मूलबन्ध महावेध खेचरी विपरीतकरणी योनि
वज्राली शक्तिचालिनी ताड़ागी माण्डवी शाम्भवी पञ्चधारणा अश्विनी पाशिनी काकी
मातङ्गी भुङ्गिनी पार्थिवी आम्भसी आग्नेयी वायवी आकाशी

गोरक्षनाथ के योगबीज की दृष्टि— वायु को वश में करने वाले श्रेष्ठतम बन्ध तीन हैं— मूलबन्ध, उड्डियानबन्ध एवं जालन्धरबन्ध।

प्रथमो मूलबन्धस्तु द्वितीय उड्डियानकः।
जालन्धरस्तृतीयस्तु लक्षणं कथयाम्यहम्।।

योगबीज में उड्डियान, जालन्धर आदि को मुद्रा के रूप में नहीं; प्रत्युत बन्ध के रूप में निरूपित किया गया है।

गोरक्षशतक में गोरक्ष-दृष्टि— 'गोरक्षशतक' में गोरक्षनाथ ने मुक्तिदा मुद्राओं में केवल ५ मुद्राओं का नामोल्लेख किया है और उन्हें योगबीज की भाँति बन्ध नहीं; प्रत्युत 'मुद्रा' कहा है। वे इसी तारतम्य में खेचरी मुद्रा के स्वरूप की भी विवेचना कर गए हैं; किन्तु नभोमुद्रा के रूप में—

महामुद्रां नभोमुद्रां उड्डियानं जलन्धरम्।
मूलबन्धञ्च यो वेत्ति स योगी मुक्तिभाजनम्।।

इसके बहुत आगे ६४ वें श्लोक में खेचरी मुद्रा का उल्लेख किया गया है और महामुद्रा का स्वरूप— विवेचन करने के बाद ही खेचरी मुद्रा का स्वरूप-निर्वचन बड़े विस्तार के साथ किया गया है। इसका विवेचन अगली छब्बीस अर्धालियों में विस्तार-पूर्वक किया गया है। यथा—

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी।।

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता।
तेनैव खेचरी मुद्रा सर्वसिद्धैर्नमस्कृता।।

इसी तारतम्य में गोरक्षनाथ ने नभोमुद्रा का भी नामोल्लेख किया है—

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः।
न तस्य सरते बिन्दुः कामिन्यालिङ्गितस्य च।।

यावद् बिन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्युभयं कुत।
यावद् बद्धा नभोमुद्रा तावद् बिन्दुर्न गच्छति।।

पाशुपत शास्त्र में कायिकी मुद्रा प्रतिपादित हुई है। इस तथ्य को व्याख्याकार जयरथ ने उद्धृत किया है। आचार्य महेश्वानन्द महार्थमञ्जरी की ५१वीं गाथा में मुद्रा की विवेचना करते हुए कहते हैं कि परमात्मा की स्वात्मविमर्शस्वरूपिणी शक्ति ही मुद्रात्मिका है। जिस अवस्था में समस्त योग-प्रचलित अष्ट महासिद्धियों के सौभाग्य को तिरस्कृत करने वाले ऐश्वर्यस्वरूप परमात्म-विमर्श के आनन्द के उत्कर्ष की परमाह्लादिनी शक्ति व्यक्त होती है या स्वानुभूति के रूप में अभिव्यक्त होती है, वही परमात्मा की पूजा मुद्रा है—

आशान्दुल्लाससिरी छुल्लइददृमहसिद्धिसोहग्गा।
दीसइ जत्थ दसाए सोच्चिअ देवस्स सव्वमुद्दाओ।।

(आनन्दोल्लासश्रीः क्षुल्लकिताष्टमहासिद्धिसौभाग्या।
दृश्यते यत्र दशायां सैव देवस्य सर्वमुद्रा।।)

महेश्वरानन्द परिमल में मुद्रातत्त्व की व्याख्या करते हुए कहते हैं— 'यस्यामवस्थायां देवस्य क्रीडाविजिगीषाद्यनेकप्रकारस्वातन्त्र्यसारत्वात् पूज्यपूजकत्वोभयस्वभावसामरस्यशालिनः परमेश्वरस्य स्वविश्रान्तिलक्षणमानन्दं प्रति य उल्लासः तथा परामृश्यमानतया स्फुरत्ता तस्याः श्रीः तद्वदुपर्युपर्यनुस्यूतिलक्षणा प्ररूढिर्दृश्यते निर्विवादमपरोक्षीक्रियते, सैव सर्वा करङ्किण्यादयः संक्षोभिण्यादयोऽन्यथा वा प्रसिद्धास्तास्ता मुद्रा इत्यवगन्तव्यम्।'

सारांश यह कि परमेश्वर की स्वविश्रान्तिस्वरूप आनन्द के प्रति जो उल्लास है और परामृश्यमान स्वरूप में जो स्फुरत्ता है, उसकी 'श्री' की अपरोक्षानुभूति ही मुद्रा है; जो कि बाह्य रूप में बाह्य मुद्रा के रूप में भी प्रदर्शित की जाती है। अणिमा, गरिमा, महिमा,

प्रकाम्य, ईशित्व, वशित्व, प्राप्ति एवं कामावसायित्व के रूप में जो अष्ट सिद्धियाँ हैं, वे भी इसी 'श्री' एवं परमाह्लादिनी विमर्शशक्ति (आनन्द शक्ति) की अभिव्यक्तियाँ हैं और यही आनन्द शक्ति पूजानुगत मुद्रा का यथार्थ स्वरूप है।

अभिनवगुप्तपादाचार्य का मत— तन्त्रालोक में अभिनवगुप्तपादाचार्य कहते हैं—

मुद्राप्रदर्शनं पश्चात्कायेन मनसा गिरा। (१५.२५९)

जयरथ इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि भैरव के साक्षात्कार हेतु मुद्राओं का प्रदर्शन आवश्यक है। भगवान् शिव देवी पार्वती से कह रहे हैं कि हे महादेवी! भैरव की इन मुद्राओं का प्रदर्शन भी इस अवसर पर आवश्यक है। आवाहन, पूजन तथा विसर्जन की मुद्रायें पृथक्-पृथक् होती हैं। ये उन्हीं अवसरों पर यथानुरूप प्रदर्शित भी की जाती हैं—

एता मुद्रा महादेवि! भैरवस्य प्रदर्शयेत्।
आवाहने पूजनान्ते तथा चैव विसर्जने।।

'ननु एवं स्वात्मनि भैरवीभाव: कृतो भैरवस्य सन्निधिनिमित्तमवश्यप्रदर्शनीया मुद्रा:' (जयरथ : विवेक)।

इन मुद्राओं का प्रदर्शन आवाहन, पूजा के अन्त में तथा विसर्जन के समय करना चाहिए।

मुद्राओं का प्रदर्शन केवल शरीर से ही नहीं; प्रत्युत तीन प्रकार से करना चाहिए; वे इस प्रकार हैं— कायिक, मानसिक एवं वाणीगत।

मुद्राप्रदर्शनं पश्चात्कायेन मनसा गिरा। (अभिनव०)

मनोजा गुरुवक्त्रस्था वाग्भवा मन्त्रसम्भवा।
देहोद्भवाङ्गविक्षेपैर्मुद्रेयं त्रिविधा स्मृता।।

(क) मनोजा मुद्रायें— मन से उत्पन्न (मानसिक अनुसन्धान से उद्भूत) ही मनोजा मुद्रायें कहलाती हैं।

(ख) वाग्भवा मुद्रायें— गुरुमुख में स्थित और वाणी के माध्यम से व्यक्त होने वाली मुद्रायें वाग्भवा मुद्रायें कहलाती हैं। वाग्भवा मुद्रायें मन्त्रसम्भवा भी मानी जाती हैं।

(ग) देहोद्भवा मुद्रायें— ये आंगिक होती हैं। ये उँगलियों के विक्षेप से उद्भूत होती हैं। इन आंगिक एवं विक्षेपमयी आकृतियों से शाक्तस्पन्द में विशेषोल्लास उदित होता है। इस प्रकार मनोजा, वाग्भवा एवं देहोद्भवा— तीन प्रकार की मुद्रायें होती हैं।

मुद्राओं का आदर्श स्वरूप

मुद्रानामक पूजा-व्यापार शिव-शक्तिरूप ही है— 'मुद्राख्य: शिवशक्तय:' मुद्राओं का प्रदर्शन शरीर, मन एवं वाणी— तीनों से करना चाहिए। इन मुद्राओं को मन से

निष्पादित करने का भी शास्त्रों में विधान है। मुद्राओं को शिव एवं शक्ति का स्वस्वरूप मानकर ही उनका मन में भक्तिपूर्वक स्मरण करना चाहिए।

बौद्धों की तान्त्रिक साधनाओं में भी मुद्राओं का प्रयोग किया जाता है।

बौद्धतन्त्रों की मुद्रायें

बौद्ध तान्त्रिक साधना में मुद्रा का अर्थ नारी से सम्बद्ध है। अभिषेक में भी नारियों का होना अनिवार्य माना जाता है। ये नारियाँ मुद्रा कही जाती हैं। मुद्रा (नारी शक्ति) द्वारा साधक अपने भीतर निहित शक्तियों को जाग्रत किया करता है। यहाँ साधक परम-तत्त्व शिव एवं मुद्रा (नारी) शक्ति तत्त्व का प्रतीक है। मुद्राओं को विद्या भी कहा गया है। इन विद्याओं (मुद्राओं) के निम्न प्रकार हैं—

१. भागिनेया
२. दुहित्री
३. भगिनी
४. जननी
५. भार्या की जननी
६. मातुल की पत्नी
७. पितृव्य पत्नी
८. पिता की भगिनी
९. स्वमातृ भगिनी
१०. स्वभार्या

अन्य दस विद्यायें निम्नवत् हैं—

१. शूद्री
२. क्षत्रिणी
३. ब्राह्मणी
४. वेश्या
५. डोम्बी
६. कैवर्ती
७. नटी
८. रजकी
९. चर्मकारी
१०. चाण्डाली

साधक को इन १० विद्याओं को गुरु को समर्पित करने का तान्त्रिक विधान है। गुरु तारा, पाण्डरा, मामकी, लोचना, स्पर्शवज्रा, रसवज्रा, रूपवज्रा, गन्धवज्रा आदि देवियों की भी शिष्यों से पूजा कराता है तथा गुरु साधक को उसकी अपनी पत्नी के साथ या चाण्डाली आदि अन्य मुद्राओं के साथ साधना करने का आदेश देता है।

इन मुद्राओं के प्रतीकार्थ भी हैं। ये १० मुद्रायें ही १० साधना भूमियों की भी प्रतीक हैं, जो निम्नांकित हैं—

१. प्रमुदिता
२. विमला
३. प्रभाकरी
४. अर्चिष्मती
५. सुदुर्जया
६. अभिमुखी
७. दुरङ्गका
८. अचला
९. धर्मामेध्या

नारी को प्रज्ञापारमिता का स्वरूप माना गया है।[१]

अद्वयवज्र 'अद्वयवज्रसंग्रह' में कहते हैं कि गुह्य क्रिया (रति कर्म) से प्रज्ञा एवं उपाय दीप्त हो उठते हैं— प्रज्ञोपायगुह्याभ्यां दीप्यत।

सेकोद्देश्य टीका में मुद्रा को मांसल नारी के रूप में स्वीकार करके कलशाभिषेक,

---

१. सेकोद्देश्य टीका।

गुह्याभिषेक एवं प्रज्ञाभिषेक का विधान किया गया है और कहा गया है कि 'तत्स्तुष्टो गुरुर्लोकसंवृत्या स्वनस्पर्शनं कारयति, स्वमुद्रायास्तेन कलषाभिषेकः स एव। ततो गुह्य-पूजा कृत्वा शिष्यामृतं ददाति, मुद्रारविन्दं चालोकयति तेन गुह्याभिषेको भवति।।'

मुद्रा, आनन्द और क्षण

तन्त्रशास्त्र में चार मुद्रायें मानी गई हैं— कर्ममुद्रा, धर्ममुद्रा, महामुद्रा एवं समयमुद्रा।

कर्ममुद्रा— इसमें आदि अभिषेक की क्रियायें एवं विधि-निषेध तथा कर्म-विपाक, वैचित्र्य एवं वैविध्य सभी अन्तर्भुक्त हैं।

ये मुद्रायें शारीरिक चेष्टाओं की अपेक्षा पित्त की आन्तरिक भूमियाँ अधिक हैं।

अद्वयवज्रसंग्रह में कहा गया है— 'कर्ममुद्रा-कर्म या काय वाक् चित्त चिन्ता तत्प्रधाना मुद्रा कल्पनास्वरूपा तस्यां कर्म्ममुद्रायां आनन्दा जायन्ते।

धर्ममुद्रा— निष्प्रपञ्चा, निर्विकल्पा, अकृत्रिमा, उत्पादरहिता, करुणास्वभावा, परमा-नन्दैकसुन्दरोपायभूता। यह है— 'निस्तरङ्गशून्यता करुणाभिन्ना।'

महामुद्रा— अविकल्पितसङ्कल्प अप्रतिष्ठित मानस।
अस्मृत्य मनसिकार निरालम्ब नमोऽस्तु ते।।

इसमें ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय आदि की त्रिपुटी नष्ट हो जाती है, अतः यह निर्वाणस्वरूपिणी है।

समयमुद्रा— समयमुद्रा सम्यक् सम्बोधि प्राप्त करने की अवस्था है। इस अवस्था में मन्त्र, जप, तप, होम, मण्डल आदि के सारे विधान निरर्थक एवं अप्रयोज्य माने जाते हैं—

न मन्त्रजापो न तपो न होमो न माण्डलेयं न च मण्डलं च।
स मन्त्रजापः स तपः स होमः तन्माण्डलेयं न च मण्डलं च।।

धर्ममुद्रा में ज्ञान-प्राधान्य रहता है; अतः उसमें वैलक्षण्य एवं स्थैर्य दोनों रहते हैं। महामुद्रावस्था में संसार के समस्त पदार्थ अप्रतिष्ठ हो जाते हैं और शुद्धाद्वैत ज्ञान का उन्मेष होता है। विना महामुद्रा के कर्ममुद्रा निष्फल रहती है। अन्ततः समयमुद्रा या सहजमुद्रावस्था काम्य रहती है। इसमें योगी स्वरूपावस्थान प्राप्त कर लेता है।

शृणु देवि! प्रवक्ष्यामि मुद्राः सर्वार्थसिद्धिदाः।
याभिर्विरचिताभिस्तु सम्मुखा त्रिपुरा भवेत्।। (३.२)

शिवानन्द ने ऋजुविमर्शिनी में मुद्रा की व्याख्या में दो परिभाषायें प्रस्तुत की हैं—

मोचयन्ति ग्रहादिभ्यः पाशौघं द्रावयन्ति च।
मोचनं द्रावणं यस्मान्मुद्रास्ताः शक्तयो मताः।। (सेकोद्देश)

द्रावणात् पाशजालस्य तत्परस्य च मोचनात्।
मुद्रापीठमिति प्रोक्तं कामरूपं नमाम्यहम्।। (सं० प०)

शिवानन्द कहते हैं कि मुद्रायें तो अनिर्वचनीय आध्यात्मिक शक्तियाँ हैं— 'मुद्रा नाम काश्चन शक्तय:।'

त्रिखण्डा मुद्रा त्रिपुरा के आह्वान हेतु प्रसुक्त होती है। प्रथम मुद्रा सर्वसंक्षोभकारिणी कहलाती है। मुद्रायें निम्नांकित हैं—

प्रथमा मुद्रा : सर्वसंक्षोभकारिणी मुद्रा
द्वितीया मुद्रा: सर्वविद्राविणी मुद्रा
तृतीया मुद्रा : त्रैलोक्याकर्षिणी मुद्रा
चतुर्थी मुद्रा : सर्वावेशकरी मुद्रा
पञ्चमी मुद्रा : उन्मादिनी मुद्रा
षष्ठी मुद्रा : महांकुशाख्या मुद्रा
सप्तमी मुद्रा : खेचरी मुद्रा[१]
अष्टमी मुद्रा : बीज मुद्रा
नवमी मुद्रा : योनि मुद्रा

अंगुलिविरचनात्मा बोधगगनचारिता कलात्मा उद्योगात्मा संस्थानविशेषानुसरणरूपा

खेचरी मुद्रा

१. चिबुकं योजयित्वा तु षोडशस्वरमण्डले।
चन्द्रसूर्यनिरोधेन मूलशक्तिनिकुञ्चनात्।
रसनामन्तरा कृत्वा अनच्के धारयेन्मन:।
एष सा खेचरी ध्याता उन्मनात्वं प्रयच्छति।।

२. चिबुककण्ठसमायोगात् प्रविकास्य शिरोऽम्बुजम्।
चन्द्रसूर्यनिरोधेन मूलशक्तिं निकुञ्च्य च।।
रौद्रीं कुचिकयोद्घाट्य द्विरष्टकमलोदरे।
रसनामन्तरा कृत्वा नासाग्रे रोपयेद् दृशम्।।
यवमात्रत्रिकोणं तु मीलनोन्मीलनात्मकम्।
लिहन् स्वरसनाग्रेण पिबन्नमरवारुणीम्।।
सदा समरसीभूतं मन: शून्ये निवेशयेत्।
एषा सा खेचरी मुद्रा उन्मनात्वप्रदायिनी।[२]

श्रीतन्त्रसद्भाव में इसका स्वरूप इस प्रकार विवेचित किया गया है—

बद्ध्वा पद्मासनं योगी नाभावक्षेश्वरं न्यसेत्।
दण्डाकारं तु तत्तावन्नयेद् यावत् कखत्रयम्।।
निगृह्य तत्र तत्तूर्णं प्रेरयेत त्रयेण तु।
एतां बद्ध्वा महायोगी खे गतिं प्रतिपद्यते।।

---

१. नित्याषोडशिकारणवि। २. ज्ञानार्णव तन्त्र।

मुद्रा, आनन्द एवं क्षण का पारस्परिक सम्बन्ध इस प्रकार है—

क्षण	आनन्द	मुद्रा
१. विचित्र	आनन्द	कर्ममुद्रा
२. विपाक	परमानन्द	धर्ममुद्रा
३. विलक्षण	सहजानन्द	महामुद्रा
४. विमर्द	विरमानन्द	समयमुद्रा

चार प्रकार के ही क्षण हैं, जहाँ आनन्दों का उद्भव होता है। विकल्प ही क्षोभ उत्पन्न करते हैं। विकल्पों का कारण है— मन। मन के कार्यों की समाप्ति की अवस्था है— अमनस्कारावस्था। यह अवस्था परमोच्च आनन्द, परमोच्च मुद्रा एवं परमोच्च क्षण की अवस्था होती है।

नारोपा का मत— नारोपा की 'सेकोद्देश' टीका में उपर्युक्त आनन्दों के १६ भेद किये गए हैं और ४-४ आनन्दों की एक श्रेणी निर्मित की गई है। सेकोद्देश टीका में जो आनन्द-क्रम दिया गया है, वह 'अद्वयवज्रसंग्रह' के आनन्दतन्त्र क्रम से भिन्न है। 'हेवज्र-तन्त्र' में सहजानन्द के लिए बोधिचित् (शुक्र) के प्रवाह को रोकना आवश्यक माना गया है। 'गुह्याभिषेक' एवं 'प्रज्ञाभिषेक' में भी यह विधान स्वीकृत है। स्खलन मृत्यु है—

मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्।

यामुनाचार्य का मत— आचार्य श्री यामुनाचार्य ने आगम प्रामाण्य में छः मुद्राओं का वर्णन किया है— कर्णिका, रुचक, कुण्डल, शिखामणि, भस्म, और यज्ञोपवीत।

कपालमुद्रा, खट्वाङ्ग मुद्रा, उपमुद्रायें पाशुपत मत में स्वीकृत हैं।

पाञ्चरात्र का मत— पाञ्चरात्र आदि वैष्णवागमों में शंख एवं चक्र आदि को गर्म करके शरीर पर उनके चिह्न बनाना भी 'मुद्रा' कहा गया है। पाशुपतागम में शरीर पर धारण किए गए अनेक द्रव्यों को भी मुद्रा कहा गया है।

अभिनवगुप्तपाद ने तन्त्रालोक (आ०-२९) में मुद्राओं के प्रयोग को उचित माना है तथा पाञ्चरात्रागम, पाशुपतागम में निर्दिष्ट मुद्राओं (बाह्य मुद्राओं) को भी सार्थक स्वीकार किया है एवं रहस्यप्रधान तन्त्रों के अनुवर्ती साधकों के लिए रहस्यात्मक मुद्राओं को (मुद्राओं के प्रतीकार्थों एवं रहस्यार्थों को) उपादेय माना है।

नेत्रतन्त्र का मत— नेत्रतन्त्र (२१.८०) में स्वात्माभिव्यक्ति के लिए तीन साधनों का निर्देश किया गया है— मन्त्र, ध्यान एवं मुद्रा।

अद्वैतप्रधान तन्त्रों में सभी कुछ आत्मस्वरूप माना जाता है। अतः इस दृष्टि से मुद्रा को भी परसंवित् का ही एक स्वरूप स्वीकार्य किया जाता है।

नित्याषोडशिकार्णव— नित्याषोडशिकार्णव (पटल-३.२८) में कहा गया है कि त्रिपुरासम्बन्धी मुद्राओं की यह महत्ता है कि उनके प्रदर्शन से स्वयं भगवती त्रिपुरा प्रकट हो जाती हैं। पूजाकाल में ही इन मुद्राओं का प्रयोग किया जाना चाहिए—

एता मुद्रा महेशानि! त्रिपुराया मयोदिता:।
पूजाकाले प्रयोक्तव्या यथानुक्रमयोगत:।।

योनिमुद्रा सर्वोच्च मुद्रा है और अन्य सभी मुद्रायें इसी के रूपान्तर हैं—

एका चैव महामुद्रा योनिमुद्रात्वमागता।
तया विभक्त आत्मा तु संक्षोभादिप्रभेदत:।।

१. सर्वसंक्षोभिणी : द्राम् (द्रां)
२. सर्वविद्राविणी : द्रीम् (द्रीं)
३. सर्वाकर्षिणी : क्लीम् (क्लीं)
४. सर्वावेशकारिणी : ब्लूम् (ब्लूं)
५. सर्वोन्मादिनी : स:
६. सर्वाङ्कुशा : क्रोम् (क्रों)
७. खेचरी : ह् स् क्रोम्
८. बीजमुद्रा : हसौ
९. योनिमुद्रा : ऐं

→ ये नवों मुद्रायें नवों चक्रों में बीज के उच्चारण के साथ प्रदर्शित की जानी चाहिए। नवों मुद्राओं के बीज अर्थरत्नावली में इसी प्रकार प्रस्तुत किये गये हैं।

इन समस्त मुद्राओं में प्रथमा मुद्रा सर्वसंक्षोभिणी मुद्रा एवं अन्तिम मुद्रा योनिमुद्रा है।

बाह्यपूजा में सर्वसंक्षोभिणी मुद्रा प्रथम मुद्रा है। योनिमुद्रा बन्ध के मन्त्रगत समस्त दोषों के निराकरणार्थ तन्त्रों में कहा गया है—

यद्यदुच्चरते मन्त्री मन्त्रवर्णं शुभाशुभम्।
तत्तत्सिद्ध्यति देवेशि! योनिमुद्रा निबन्धनात्।।

योनिमुद्रा की ही भाँति खेचरी मुद्रा की भी महत्ता है। शैव-शाक्त-बौद्ध-कौलिक तन्त्र-ग्रन्थों में मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन— पञ्च पदार्थों को बाह्योपासना में स्वीकार किया गया है और उनकी भी आख्या मुद्रा है। आन्तरी 'मुद्रा' क्या है? ये निम्नांकित हैं—

कुलयोगिन उद्रिक्त भैरवीयरसासवात्।
घूर्णमानस्य य: कश्चित् कोऽप्युदेति यथा तथा।।

शरीरग: समावेशो मोदनद्रावणात्मक:।
सा स्वीकृत जगन्मुद्रा मुद्रा नैरुत्तरे मते।।[१]

●

१. मालिनीविजयवार्तिक।

मुद्राओं के विभिन्न भेद

१. महामुद्रा और उसका स्वरूप

साधक को बाएं पैर की एड़ी से गुदा एवं पेट के मध्य में स्थित योनिस्थान को बड़ी कोमलतापूर्वक दबाकर दायें पैर को फैलाकर और दोनों हाथों से अंगूठे को पकड़कर शरीर के नवों द्वारों को रोककर ठोढ़ी को हृदयस्थल पर संयत करके तथा चित्त को परमात्मा में निलीन (एकाग्र) करके वायु-साधन का अभ्यास करना चाहिए। यही योग-शास्त्र में महामुद्रा कही जाती है।[१]

इस मुद्रा-साधना में साधक को स्थिर मन से प्रथमत: वामांग से अभ्यासारम्भ करना चाहिए और उसके बाद दायें अंग से करना चाहिए। दोनों अंगों से अभ्यास करते समय साधक को प्राणायाम का अभ्यास समान रूप से करना चाहिए। इस अभ्यास से तो मन्द-भाग्य योगी भी सिद्ध हो जाता है।

महामुद्राभ्यास से (प्राणायामाभ्याम के माध्यम से) शरीर की समस्त नाड़ियों का सञ्चालन एवं चालन होता है; उनमें वायु का संचार हो जाता है और स्फूर्ति आ जाती है।[२]

महामुद्रा-साधना के लाभ (शिवसंहिता[३])—

---

१. शिवसंहिता

२. शिवसंहिता इसके करने से क्षय, बवासीर, प्लीहा, अपच, कुष्ठ, मलावरोध समाप्त हो जाता है।

३. अनेन विधिना योगी मन्दभाग्योऽपि सिध्यति।
सर्वासामेव नाडीनां चालनं बिन्दुमारणम्।।
जीवनं तु कषायस्य पातकानां विनाशनम्।
कुण्डली-तापनं वायोर्ब्रह्मरन्ध्रप्रवेशनम्।।
सर्वरोगोपशमनं जठराग्निविवर्धनम्।
वपुषा कान्तिममलां जरामृत्युविनाशनम्।।
वाञ्छितार्थफलं सौख्यमिन्द्रियाणाञ्च मारणम्।
एतदुक्तानि सर्वाणि योगरूढ़स्य योगिन:।
भवेदभ्यासतोऽवश्यं नात्र कार्या विचारणा।।
गोपनीया प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिते।
यां तु प्राप्य भवाभ्भोधे: पारं गच्छन्ति योगिन:।।
मुद्रा कामदुघा ह्येषा साधकानां मयोदिता।
गुप्ताचारेणा कर्तव्या न देया यस्य कस्यचित्।।

14854

१. महामन्द भाग्य वालों को भी सिद्धि की प्राप्ति।

२. शरीर की समस्त नाड़ियों का चालन (गतिमयता) और सभी नाड़ियों में वायु-संचार एवं स्फूर्ति।

३. वीर्य की स्थिरता।

४. जीवन में स्थैर्य एवं समस्त पापों का क्षय।

५. कुण्डलिनी शक्ति की प्रबुद्धता और उसका वायुसहित ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश।

६. समस्त रोगों का नाश।

७. जठराग्नि की प्रदीप्ति।

८. शरीर में कान्ति।

९. जरा-वार्धक्य एवं मृत्यु का नाश।

१०. मनोकामनाओं की पूर्ति।

११. सुख की प्राप्ति।

१२. इन्द्रियों पर विजय।

१३. सब कुछ की सिद्धि।

१४. संसार-सागर से पार होना।

हठयोगप्रदीपिका में स्वात्माराम मुनीन्द्र महामुद्रा-साधन के निम्न लाभ बनाते हैं—

१. आधार शक्ति कुण्डली ऋज्वीभूत (सरल) हो जाती है।

२. महाक्लेशों (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष अभिनिवेश) का अन्त।

३. द्विपुटाश्रया इड़ा-पिंगला नाड़ी की मरणावस्था आ जाती है (सुषुम्णा नाड़ी में प्राण-प्रवेश)।

४. इड़ा-पिंगला की मृत्यु।

५. इसके साधक को पथ्यापथ्य का विचार नहीं करना पड़ता।

६. समस्त छः हों प्रकार के रसों की सुपाच्यता।

७. खादित विष भी अमृत बन जाता है।

८. क्षय, कुष्ठ, गुदावर्त, गुल्म एवं इनसे सम्भूत रोगों का नाश।

९. महान् सिद्धियाँ प्रदान करता है।

१०. अजीर्ण का नाश।

न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यति।।

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ।
तस्या दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत्।।

कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम्।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित्।। (ह० प्र०)

महामुद्रा दसों मुद्राओं में प्रथम मुद्रा है। इसकी साधना-विधि यह है कि वाम पाद के मूल (तलभाग) से अर्थात् पार्ष्णि से योनि-स्थान (गुदा-लिंग का मध्यभाग) को सम्यक् रूप से सम्पीड़ित करके (दबाकर) और दक्षिण पैर को फैलाकर (दक्षिण पाद की पार्ष्णि अर्थात् एडी को भूमि से मिलाकर) और उसकी उँगलियों को ऊपर करके उस दक्षिण पाद को सिकुड़ी हुई दोनों हाथों की तर्जनियों से दृढ़तापूर्वक अंगुष्ठ के स्थान में जोर से पकड़ना चाहिए। कण्ठ प्रदेश में भली प्रकार जालन्धर नामक बन्ध लगाकर वायु को ऊर्ध्व देश (सुषुम्ना) में धारण करना चाहिए। ब्रह्मानन्द ज्योत्स्ना में कहते हैं कि— साम्प्रदायिकों का कथन है कि मूलबन्ध तो योनि के सम्पीड़न एवं जिह्वा के बन्धन से ही चरितार्थ है; पृथक् रूप से मूलबन्ध लगाने का कोई प्रयोजन ही नहीं है।[१]

घेरण्डसंहिता में इस विधान को और अधिक सुस्पष्ट करते हुए कहा गया है कि इसके साधन में— गुह्यप्रदेश को दृढ़तापूर्वक बायीं एड़ी से दबाना चाहिए, दाहिने पैर को फैलाकर हाथ से पैर की उँगलियों को पकड़ना चाहिए और कण्ठ को सिकोड़कर भौहों के मध्य स्थान में देखना चाहिए। यही 'महामुद्रा' है—

पायुमूलं वामगुल्फे सम्पीड्य दृढ़यत्नतः।
याम्यपादं प्रसार्याथ करे धृतपदाङ्गुलः।।
कण्ठसङ्कोचनं कृत्वा भ्रुवोर्मध्ये निरीक्षयेत्।
महामुद्राभिधा मुद्रा कथ्यते चैव सूरिभिः।।

ग्रहयामल में कहा गया है—

योनिप्रदेश को बायीं एड़ी से दबाकर दक्षिण पाँव को फैलाकर मुंह को दोनों हाथों से पकड़कर और उसे कण्ठ में सिकोड़कर कुम्भक करते हुए वायु को रोके।

ऐसा करने से डण्डे से घायल (चोट खाये) सर्प के समान कुण्डलिनी खड़ी हो जाती है (जैसे आहत सर्प)। इस प्रकार कुटिला (टेढ़ी) कुण्डलिनी सरल भाव ग्रहण कर लेती है।

इसके बाद कुम्भक से भरी वायु का रेचन कर देना चाहिए। यही साधना-विधि महामुद्रा है—

पादमूलेन वामेन योनिं सम्पीड्य दक्षिणे।
पादं प्रसारितं कृत्वा कराभ्यां धारयेद् दृढम्।।
कण्ठे वक्त्रं समारोप्य धारयेद् वायुमूर्ध्वतः।
यथादण्डाहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते।।

---

१. हठयोगप्रदीपिका–ज्योत्स्ना।

ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत्।
तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रिता।।

तदा शनैः शनैरेव रेचयेत् नैव वेगतः।
इयं खलु महामुद्रा तव स्नेहात् प्रकाश्यते।।

ग्रहयामल में इसकी साधना के अन्य फल भी बताए गए हैं—

महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयन्ते मरणादयः।
महामुद्रा तु तेनैव समाख्याता महेश्वरी।।

चन्द्राङ्गेन समभ्यस्य सूर्याङ्गेन समभ्यसेत्।
यावत्संख्या भवेत्तस्या ततः संख्यां विसर्जयेत्।।

न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमपि जीर्यति।।

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुदप्लीहपुरोगमाः ।
तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां च योऽभ्यसेत्।।

कथितेयं महामुद्रा जरामरणनाशिनी।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित्।।

अर्थात् महाक्लेशादि एवं मरणादि दोष भी महामुद्रा के अभ्यास से नष्ट हो जाते हैं। चन्द्रस्वर का अभ्यास करके सूर्यांग से निश्चित संख्यापर्यन्त अभ्यास करने से पथ्यापथ्य एवं विष भी खाने पर पच जाते हैं। क्षयादिक रोग, जरा, मरण आदि सभी का महामुद्रा से नाश हो जाता है।

स्वात्माराम मुनीन्द्र ने भी 'हठयोगप्रदीपिका' इसी तथ्य की इन शब्दों द्वारा पुष्टि की है—

महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयन्ते मरणादयः।
महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः।।

चन्द्राङ्गे तु समभ्यस्य सूर्याङ्गे पुनरभ्यसेत्।
यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत्।।

न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यति।।

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ।
तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत्।
कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम्।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित्।।

२. महाबन्ध और उसका स्वरूप

स्वात्माराम मुनीन्द्र ने हठयोगप्रदीपिका में जिन १० मुद्राओं का उल्लेख किया है, उनमें 'महाबन्ध' द्वितीय मुद्रा है—

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी।
उड्यानं मूलबन्धश्च बन्धो जालन्धराभिध:।।

करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम्।
इदं हि मुद्रा दशकं जरामरणनाशनम्।।

इस मुद्रा का विधान इस प्रकार है कि इसमें साधकों को वाम चरण की पार्ष्णि को योनिस्थान में (गुदा-लिंग के मध्य स्थान में) लगाना चाहिए तथा वाम जंघा के ऊपर दक्षिण पाद (दाहिने पैर) को रखना चाहिए। इसी स्थिति में बैठना चाहिए—

पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत्।
वामोरुपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा।।

इसके अनन्तर पूरक करना चाहिए और हृदय में दृढ़तापूर्वक चिबुक (ठोढ़ी) को साध कर (जालन्धर बन्ध लगाकर) योनि (गुदा-लिंग का मध्य भाग) को संकुचित करके (मूलबन्ध लगाकर) मन को मध्य नाड़ी में प्रवेश कराना चाहिए।

फिर वायु को यथाशक्ति (कुम्भक के द्वारा) धारण करके शनैः-शनैः वायु का रेचन कर देना चाहिए। इसी प्रकार वामांग में भी भली प्रकार अभ्यास करने के बाद दक्षिणांग में इसका अभ्यास करना चाहिए और यह अभ्यास तब तक करते रहना चाहिए, जब तक कि वामांगाभ्यास की संख्या के बराबर न हो जाय।

जहाँ तक जालन्धर बन्ध में कण्ठ के संकोच का उपयोग है, उसके विषय में किन्हीं-किन्हीं आचार्यों का कथन है कि इस जालन्धर बन्ध में कण्ठ का जो बन्धन (संकोच) है, उसे छोड़ देना चाहिए; क्योंकि दाढ़ (राजदन्त) के ऊपर अवस्थित जिह्वा का बन्ध ही जालन्धर बन्ध में उचित है; कण्ठ-संकोच की अपेक्षा वही उत्तम है। स्वात्माराम कहते हैं—

पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चिबुकं दृढ़म्।
निष्पीड्य योनिमाकुञ्च्य मनो मध्ये नियोजयेत्।।

धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः।
सव्याङ्गे तु समभ्यस्य दक्षाङ्गे पुनरभ्यसेत्।।

मतमत्र तु केषाञ्चित् कण्ठबन्धं विवर्जयेत्।
राजदन्तस्थजिह्वायां बन्धः शस्तो भवेदिति।।

शिवसंहिता में इसका स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

दाहिना पैर फैलाकर, बायीं जांघ पर रखकर, गुदा और योनि को सिकोड़ कर अपान

वायु को ऊपर चढ़ाकर प्राणवायु को नीचे की ओर खींचकर दोनों को (नाभिस्थल में) समान वायु से संयुक्त करके ऊपर उठाने के लिए इस महाबन्ध का अभ्यास जो साधक करता है, उसके लिए यह (महाबन्ध) सिद्धिमार्गदायक कहा गया है। योगी के नाड़ी-जाल से रसव्यूह ऊपर की ओर जाता है। इस महाबन्ध का अभ्यास बड़ी सावधानी से दोनों पैरों से बारी-बारी से करना चाहिए। इस बन्ध के अभ्यास से सुषुम्णा नाड़ी के भीतर वायु स्थित हो जाती है। इसके अभ्यास से शरीर के अस्थिपञ्जर का ढांचा सुदृढ़ होता है। सभी बन्ध संयत होते हैं और योगी का हृदय सन्तुष्ट हो जाता है।

इस महाबन्ध के अभ्यास से योगीन्द्र अपनी समस्त इच्छायें पूरी कर सकता है।[१]

घेरण्डसंहिता में ऋषि घेरण्ड ने इस मुद्रा को इस प्रकार स्पष्ट करने का प्रयास किया है— बायीं एड़ी से गुदामूल का निरोध करके दाहिने पैर से यत्नपूर्वक बायीं एड़ी को दबाता हुआ धीरे-धीरे गुह्यदेश को चालित करे एवं धीरे-धीरे गुह्यदेश को सिकोड़े तथा जालन्धर बन्ध से प्राणवायु को धारण करे। इसी मुद्रा की आख्या है— 'महाबन्ध'। ऋषि घेरण्ड कहते हैं कि महाबन्ध सभी मुद्राओं में श्रेष्ठ है। यह जरा-मृत्यु को दूर करती है। इसके प्रभाव से सभी मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं—

महाबन्धः परो बन्धो जरामरणनाशनः।
प्रसादादस्य बन्धस्य साधयेत् सर्ववाञ्छितम्।।

महाबन्ध मुद्रा के फल— स्वात्माराम मुनीन्द्र हठयोगप्रदीपिका में कहते हैं कि महाबन्ध (राजदन्तों में स्थित जिह्वा का बन्ध) ७२००० नाड़ियों की ऊर्ध्व गति का प्रतिबन्धक है। नाड़ियों के जाल का जो बन्धन करे, उसे 'जालन्धर बन्ध' कहते हैं। महा-बन्ध महासिद्धियों का प्रदायक है—

अयं तु सर्वनाड़ीनामूर्ध्वं गतिनिरोधकः।
अयं खलु महाबन्धो महासिद्धिप्रदायकः।।

---

१. ततः प्रसारितः पादो विन्यस्य तमुरूपरि।।
गुदयोनिं समाकुञ्च्य कृत्वा चापानमूर्ध्वगम्।
योजयित्वा समानेन कृत्वा प्राणमधोमुखम्।।
बन्धयेदूर्ध्वगत्यर्थं प्राणापानेन यः सुधीः।
कथितोऽयं महाबन्धः सिद्धिमार्गप्रदायकः।।
नाड़ीजालाद्रसव्यूहो मूर्धानं याति योगिनः।
उभाभ्यां साधयेत् पद्भ्यामेकैकेसु प्रयत्नतः।।
भवेदभ्यासतो वायुः सुषुम्णामध्यसङ्गतः।
अनेन वपुषः पुष्टिर्दृढ़बन्धोऽस्थिपञ्जरे।।
सम्पूर्णहृदयो योगी भवन्त्येतानि योगिनः।
बन्धेनानेन योगीन्द्रः साधयेत्सर्वमीप्सितम्।।(शिवसंहिता-३७-४२)

इतना ही नहीं; यह मुद्रा मृत्युपाशस्वरूप महाबन्धन से मुक्ति प्रदान कराती है; तीन नदियों के संगम (प्रयाग) को धारण करती है और भृकुटियों के मध्य स्थान में अवस्थित भगवान् शिव के धाम केदार तीर्थ को भी प्राप्त कराती है—

कालपाशमहाबन्धविमोचनविचक्षणः ।
त्रिवेणीसङ्गमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः।।

३. महावेध और उसका यथार्थ स्वरूप

स्वात्माराम मुनीन्द्र हठयोगप्रदीपिका में कहते हैं कि योगी महाबन्ध मुद्रा में स्थित होकर एकाग्र बुद्धि से पूरक प्राणायाम करके कण्ठमुद्रा (जालन्धर मुद्रा) से प्राणादिक वायुओं को (जो कि ऊर्ध्व अधोगत्यात्मक हैं) निश्चल रीति से अवरुद्ध करके (कुम्भक प्राणायाम करके), हाथ के तलों को भूमि पर रखकर और इन भूमिसंलग्न दोनों हाथों से योनि-स्थान-संलग्न पार्ष्णि वाले वाम पाद से नितम्ब को ऊपर उठाकर धीरे-धीरे ताडित करे।

इसके परिणामस्वरूप इडा-पिंगला के मार्ग का त्याग करके प्राण सुषुम्णा नाड़ी में प्रवाहित होने लगता है। फिर चन्द्रमा-सूर्य-अग्नि से अधिष्ठित इड़ा-पिंगला-सुषुम्णा नाड़ियों की वायु एक हो जाती है। इड़ा-पिंगला के मध्य प्राण-सञ्चार अवरुद्ध हो जाने से उनकी मरणावस्था आ जाती है; क्योंकि इड़ा-पिंगला में प्राण-सञ्चार ही उनका जीवन है। इस मरणावस्था के प्रस्तुत होने पर वायु का विरेचन कर देना चाहिए।[१]

इसी यौगिक मुद्राभ्यास को 'महावेध' कहते हैं।

घेरण्डसंहिता में इस विधान को और अधिक सुस्पष्ट रीति से समझाते हुए कहा गया है कि प्रथमतः महाबन्धमुद्रा का अभ्यास करे और फिर उड्डीयान बन्ध करके कुम्भक द्वारा वायु का स्तम्भन करे इसे ही 'महावेध' कहते हैं।[२]

शिवसंहिता में इसके स्वरूप को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— अपान एवं प्राण को एकीकृत करके महावेध में स्थित होकर योगी अपने उदर को वायु से पूरित करके दोनों पार्श्वों को ताड़ित करे। यही 'महावेध' का स्वरूप है।[३]

अभ्यासपटु योगी वायु के द्वारा सुषुम्णा मार्ग में स्थित ग्रन्थि को अच्छी तरह संविद्ध

---

१. महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः। वायूनां गतिमावृत्त्यां निभृतं कण्ठमुद्रया।।
समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ सन्ताडयेच्छनैः। पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः।।
सोमसूर्याग्निसम्बन्धो जायते चामृताय वै। मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत्।।

२. महाबन्धं समारुह्य उड्डीयानकुम्भकं चरेत्। महावेधः समाख्यातो योगिनां सिद्धिदायकः।।

३. अपानप्राणयोरैक्यं कृत्वा त्रिभुवनेश्वरि।
महावेधस्थितो योगी कुक्षिमापूर्य वायुना।
स्फिचौ सन्ताडयेद्धीमान् वेधोऽयं कीर्तितो मया।।

करके ब्रह्मग्रन्थि का भेदन करता है। जो योगी महावेध को गोपनीय रखकर सदैव इसका अभ्यास करता रहता है, उसकी वायु सिद्ध हो जाती है और इसके परिणामस्वरूप उसके वार्धक्य एवं मृत्यु का नाश हो जाता है। वृद्धावस्था तारुण्य में रूपान्तरित हो जाती है और मृत्यु उसके वशीभूत हो जाती है।

महावेध के अभ्यास से रहित महामुद्रा और महाबन्ध दोनों निष्फल हो जाते हैं। अत: योगी को महामुद्रा, महाबन्ध एवं महावेध— तीनों का अभ्यास यथाक्रम बड़ी ही सावधानी-पूर्वक करना चाहिए।

प्रत्येक योगी को (सिद्धि-प्राप्ति की इच्छा रखने वाले योगी को) इन तीनों अभ्यासों को सावधानीपूर्वक गोपनीय रखना चाहिए; अन्यथा गोपनीयता नष्ट होने पर सिद्धि भी नष्ट हो जाती है।[१]

महावेध का महत्त्व— जिस प्रकार पुरुषों के विना नारी का समस्त रूप-लावण्य एवं यौवन व्यर्थ रहता है, उसी प्रकार महावेध के विना मूलबन्ध एवं महाबन्ध भी व्यर्थ एवं निरर्थक हो जाते हैं—

रूपयौवनलावण्यं नारीणां पुरुषं विना।
मूलबन्धमहाबन्धौ महावेधं विना यथा।।[२]

यह महासिद्धिदायक मुद्रा है—

महाबन्धं समारुह्य उड्डीयानकुम्भकं चरेत्।
महावेध: समाख्यातो योगिनां सिद्धिदायक:।।

जो योगी प्रतिदिन महावेध के साथ महाबन्ध एवं मूलबन्ध का अभ्यास करते हैं, वे योगी योगियों में श्रेष्ठ हो जाते हैं और उन पर वृद्धावस्था आक्रमण नहीं करती। यह परम गुह्य अभ्यास है; अत: इसे सदैव गोपनीय रखना चाहिए।[३]

महावेध के अभ्यास का फल

१. सुषुम्णा में प्राण-सञ्चरण (प्राणवायु की मध्य नाड़ी में गति)।
२. इडा-पिंगला की (वायु-सञ्चार न होने से) मृत्यु।

---

१. गोपनीया प्रयत्नेन साधकै: सिद्धिमीप्सुभि:।
अन्यथा च न सिद्धि: स्यान्मुद्राणामेष निश्चय:।।
(शिवसंहिता)

२. घेरण्डसंहिता

३. महाबन्धमूलबन्धौ महावेधसमन्वितौ।
प्रत्यहं कुरुते यस्तु स योगी योगवित्तम:।।
न च मृत्युभयं तस्य न जरा तस्य विद्यते।
गोपनीय: प्रयत्नेन वेधोऽयं योगिपुङ्गव:।।
(घेरण्डसंहिता-२३-२४)

३. सोम, सूर्य, अग्नि (इड़ा-पिंगला-सुषुष्णा) का मोक्ष का साधन बन जाना (जायते चामृताय वै)।

४. अणिमादिक सिद्धियों की प्राप्ति। वली-पलित-वेपथु का नाश (केशों की शुक्लता का दूरीकरण)।

५. अणिमादिक सिद्धियों की प्राप्ति। वली-पलित-वेपथु का नाश (केशों की शुक्रता का दूरीकरण)।

६. जरा-मृत्यु का नाश।

७. वह्नि-वृद्धि[१]।

८. वायु-सिद्धि।

९. वार्धक्य-जरा-क्षय।

१०. सुषुम्णा मार्ग से वायु के प्रवेश एवं ताडन से सभी चक्र एवं उनके देवता—गणेश, ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, ईश्वर आदि का प्रकम्पित होने लगना।

११. कुण्डलिनी शक्ति का जागृत होकर कैलास (ब्रह्मस्थान) में लीन हो जाना।

१२. तीनों मुद्राओं के अभ्यास से ६ मासों में मृत्यु पर विजय।

१३. सिद्धि की प्राप्ति[२]।

तीनों क्रियाओं के अभ्यास की संख्या का विधान निम्नानुसार है—

अष्टधा क्रियते चैव यामे-यामे दिने-दिने।
पुण्यसम्भारसन्धायि पापौघभिदुरं सदा।
सम्यक्शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम्।।

(हठयोगप्रदीपिका-३.२१)

---

१. सोमसूर्याग्निसम्बन्धो जायते चामृताय वै।
मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत्।।
महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः ।
वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः।।
एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम्।
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम्।। (हठयोगप्रदीपिका)

२. वेधेनानेन संविध्य वायुना योगिपुङ्गवः।
ग्रन्थिं सुषुम्णामार्गेण ब्रह्मग्रन्थिं भिनत्यसौ।।
यः करोति सदाभ्यासं महावेधं सुगोपितम्।
वायुसिद्धिर्भवेत्तस्य जरामरणनाशिनी।।
चक्रमध्ये स्थिताः देवाः कम्पन्ति वायुताडनात्।
कुण्डल्यपि महामाया कैलासे सा विलीयते।।
एतत् त्रयं प्रयत्नेन चतुर्वारं करोति यः।
षण्मासाभ्यन्तरं मृत्युं जयत्येव न संशयः।। (शिवसंहिता)

४. खेचरी मुद्रा और उसका स्वरूप

कपाल छिद्र में जिह्वा-प्रवेश के साथ भृकुटियों के मध्य का दर्शन करना ही खेचरी मुद्रा कहलाती है—

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी।।
(हठयोगप्रदीपिका-३.३२)

खेचरी मुद्रा की साधना-विधि— जिह्वा के नीचे जिह्वा और उसकी जड़ को मिलाने वाली जो नाड़ी है, उसका छेदन करता हुआ निरन्तर रसनाग्र भाग को परिचालित करे। ऐसा प्रतिदिन करने से जिह्वा बड़ी हो जाती है। क्रम से अभ्यास द्वारा जिह्वा को इतनी लम्बी करे कि वह भौंहों के मध्य तक पहुँच जाय। जिह्वा को क्रमशः तालुमूल में ले जाना चाहिए। तालु के मूल में जो गर्त (गड्ढा) है, उसे 'कपालकुहर' कहते हैं। जिह्वा को कपाल-कुहर के मध्य ऊपर की ओर उल्टी करके स्थापित करना चाहिए और दोनों भौंहों के मध्य स्थान को लगातार देखना चाहिए। यही विधि एवं विधान 'खेचरी मुद्रा' है।[१]

योगसाधक को अनेक प्रकार के साधन-सम्बन्धी विघ्नों या उपद्रवों को दूर करके वज्रासनस्थ होकर, दोनों भौंहों के मध्य में दृढ़तापूर्वक दृष्टि को संयत करके लम्बिका के ऊपर स्थित गर्त में रसना को उलटकर प्रयत्नपूर्वक सुधाकूप (अमृत के कूपस्वरूप तालु-विवर) में संयोजित करना चाहिए।[२]

यह खेचरी मुद्रा समस्त सिद्धियाँ प्रदान करने वाली है। भगवान् शिव कहते हैं कि खेचरी मुद्रा मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय है—

---

१ जिह्वाधोनाड़ीसञ्छिन्नां रसनां चालयेत् सदा।
दोहयेन्नवनीतेन लोहयन्त्रेण कर्षयेत्।।
एवं नित्यं समाभ्यासाल्लम्बिका दीर्घतां व्रजेत्।
यावद्गच्छेद् भ्रुवोर्मध्ये तथा गच्छति खेचरी।।
रसनां तालुमध्ये तु शनैः शनैः प्रवेशयेत्।
कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोर्मध्ये गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी।।
(घेरण्ड संहिता-२५-२७)

२. भ्रुवोरन्तर्गतां दृष्टिं विधाय सुदृढां सुधीः।।
उपविश्यासने वज्रे नानोपद्रववर्जितः।।
लम्बिकोर्ध्वे स्थिते गर्ते रसनां विपरीतगाम्।।
संयोजयेत्प्रयत्नेन सुधाकूपे विचक्षणः।
मुद्रैषा खेचरी प्रोक्ता भक्तानामनुरोधतः।।५३।।
(शिवसंहिता-५१-५३)

सिद्धीनां जननी ह्येषा मम प्राणाधिकप्रिया।

यदि साधक इसका निरन्तर अभ्यास करता रहे तो वह अमृतपान करने लगता है। उसका शरीर पक्व-पुष्ट हो जाता है। यह खेचरी मुद्रा मृत्युरूपी हाथी के लिए साक्षात् सिंह के समान है। साधक चाहे कितना भी अपवित्र क्यों न हो; किन्तु यदि उसकी खेचरी मुद्रा सिद्ध हो जाती है तो वह सभी अवस्थाओं में शुद्ध हो जाता है। जो योगी मात्र आधे क्षण के लिए ही इस खेचरी मुद्रा का अभ्यास करता है, वह पाप-महासागर को भी पार करके समस्त दिव्य भोगों का आस्वादन करता है। यदि उसे जन्म भी लेना पड़े तो पवित्र कुल में ही जन्म लेता है।

जो योगी इस मुद्रा का अभ्यास स्वस्थ चित्त एवं प्रमादरहित होकर करता है, उसके लिए सैकड़ों ब्रह्मा के कार्यकाल व्यतीत हो जाने पर भी वह आधे क्षण के ही समान प्रतीत होता है। गुरु के उपदेश से जिस साधक को यह खेचरी सिद्ध हो जाती है, वह अनेक- विध पाप-कर्म में प्रवृत्त रहकर भी परम गति को प्राप्त कर लेता है। हे देवों के द्वारा पूजित पार्वति! इस मुद्रा का उपदेश सभी को (जिस-किसी को) नहीं करना चाहिए; केवल सुपात्र साधक ही इसके अभ्यास का अधिकारी होता है। इस मुद्रा को बड़ी ही सावधानी से गोपनीय रखना चाहिए।[१]

हठयोगप्रदीपिका में निर्दिष्ट साधना-विधि— साधक को अपनी जीभ की जड़ को सात दिनों में एक बार थोड़ा-थोड़ा काट कर और जीभ में मक्खन लगाकर जीभ का प्रतिदिन दोहन करना चाहिए एवं उसे खींच-खींचकर इतनी बड़ी कर लेनी चाहिए कि वह भौंह तक पहुँच जाय और फिर उसे मुख के अन्दर उल्टा करके कपालकुहर में

---

१. सिद्धीनां जननी ह्येषा मम प्राणाधिकप्रिया।
निरन्तरकृताभ्यासात्पीयूषं प्रत्यहं पिबेत्।।
तेन विग्रहसिद्धिः स्यान्मृत्युमातङ्गकेसरी।
अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थाङ्गतोऽपि वा।
खेचरी यस्य शुद्धा तु स शुद्धो नात्र संशयः।।
क्षणार्धं कुरुते यस्तु तीर्त्वा पापमहार्णवम्।
दिव्यभोगान् प्रभुक्त्वा च सत्कुले स प्रजायते।।
मुद्रैषा खेचरी यस्तु स्वस्थचितो ह्यतन्द्रितः।
शतब्रह्मगतेनापि क्षणार्धं मन्यते हि सः।।
गुरूपदेशतो मुद्रां यो वेत्ति खेचरीमिमाम्।
नानापापरतो धीमान् स याति परमां गतिम्।।
सा प्राणसदृशी मुद्रा यस्मै कस्मै न दीयते।
प्रच्छाद्यते प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिते।।
(शिवसंहिता-५४-५९)

स्थापित करके श्वासनलिका को भी थोड़ी-थोड़ी देर के लिए बन्द कर देना चाहिए। ऐसा करने से चन्द्रमा से निपतित अमृत मूलाधार-स्थित अग्नि में न गिरकर साधक को स्वयं प्राप्त होने लगता है; जिससे कि वह जरा-मृत्यु-विष आदि सभी पर विजय पाकर मृत्युञ्जयी बन जाता है। इसी समय योगी को अपने नेत्रों को त्रिकुटी के मध्य स्थिर करना चाहिए। शाम्भवी मुद्रा भी करते रहना चाहिए।[१]

खेचरी मुद्रा के अभ्यास में निहित क्रियायें— इस मुद्रा के अभ्यास में मुख्यत: निम्न क्रियायें है—

१. कपालकुहर में जिह्वा की स्थिरतापूर्वक स्थापना।

२. दोनों भौंहों के मध्य दृष्टि को स्थिर करना।

जिह्वागत अन्य क्रियायें हैं— जिह्वा का छेदन, जिह्वा का चालन एवं जिह्वा का दोहन[२]।

खेचरी मुद्रा के अभ्यास में व्योमचक्र एवं शाम्भवी मुद्रा प्रधान कारक तत्त्व हैं।

छेदनादि से जिह्वा के लम्बी हो जाने पर जिह्वा को तीनों नाड़ियों के मार्ग (कपाल छिद्र, में स्थिर करना (व्योम चक्र) आवश्यक है।

कलां पराङ्मुखी कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत्।
सा भवेत् खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते।।[३]

हाथ के अंगूठे एवं तर्जनी से जिह्वा को पकड़कर वाम एवं दक्षिणरूप से हिलाना और अंगूठे तथा तर्जनी से गोदोहन के समान जिह्वा का दोहन तब तक करना चाहिए,

---

१. कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी।। (स्वात्माराम मुनीन्द्र हठयोगप्रदीपिका)
भास्करराय 'सेतुबन्ध' में कहते हैं कि भगवती त्रिपुरसुन्दरी ही स्वयं खेचरी मुद्रा बनकर सर्वरोगहर चक्र में स्थित हैं— 'यानि पापानि ये च रोगास्तेषां सर्वेषां नाशं कुर्वती या विशेषदर्शनात्मिका प्रमा तदभिन्ना संविन्मयी निर्विषयज्ञानपरा क्रिया शक्त्यभिन्ना त्रिपुरसुन्दर्येव खेचरी भूत्वा सर्व-रोगहरे चक्रे स्थिता।'

२. छेदनचालनदोहै: कलां क्रमेण वर्धयेत्तावत्।
सा यावद् भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धि:।।
स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम्।
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत्।।
तत: सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत्।
पुन: सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिदेत्।।
एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्त: समाचरेत्।
षण्मासाद्रसनामूलशिराबन्ध: प्रणश्यति।।
(हठयोगप्रदीपिका-३.३३-३६)

३. हठयोगप्रदीपिका (तृतीयोपदेश ३.३७)

जब तक कि वह भ्रुवद्वय के मध्य भाग का स्पर्श न कर ले। स्नुही (सेहुँड़) के पत्ते के समान तीक्ष्ण एवं चिकने तथा निर्मल (निर्दोष) शस्त्र से जिह्वा के मूल की नाड़ी को रोम के बराबर काटना (छेदन करना) चाहिए। इस छेदन के बाद चूर्ण किए हुए लवण (सैन्धव) एवं हरड से जिह्वा के मूल को पूर्णतया घिस कर सात दिनों तक प्रतिदिन छेदन एवं घर्षण प्रत्येक प्रात:काल एवं सायंकाल करना चाहिए। योगियों के लिए लवण का प्रयोग निषिद्ध है। इसके स्थान पर खदिर (कत्था) और पथ्या का चूर्ण लेना चाहिए। सात दिन व्यतीत हो जाने पर आठवें दिन पुन: रोममात्र जीभ की जड़ को काटना (छेदन करना) चाहिए; किन्तु इस बार भी (प्रथम बार से अधिक) रोममात्र ही जिह्वा की जड़ का कर्तन (छेदन) करना चाहिए।

खेचरी मुद्रा में जिह्वा की क्रियायें हैं— छेदन, चालन, दोहन एवं जिह्वा स्थापन।

इसके अनन्तर जिह्वा को उलटकर और उसे कपाल-कुहर में स्थापित करके ब्रह्मरन्ध्र में स्थित चन्द्रमा से स्रवित अमृत को (पातालस्थ सूर्य से छीनकर) स्वयं पीना। इसमें पाँचवीं किया है— भ्रूमध्य में दृष्टिस्थापन।

खेचरी मुद्रा-सिद्धि के फल—

खेचरी मुद्रा के सिद्ध हो जाने पर निम्न परिणाम एवं सिद्धियाँ दृष्टिगोचर होती हैं—

१. तालुछिद्र में एक घटिका (मुहूर्त) मात्र की जिह्वा की स्थिरता से धातुवैषम्य से उत्पन्न व्याधि, मृत्यु, वार्धक्य एवं सर्प-वृश्चिक-दंश के विष के प्रभावों से मुक्ति[१]।

२. रोग, मरण, तन्द्रा, निद्रा, क्षुधा, तृषा, मूर्च्छा आदि से मुक्ति।

३. रोग एवं पीड़ा, कर्म-फल एवं काल के प्रभाव से मुक्ति।

४. बिन्दु-क्षरण से मुक्ति (बिन्दु-स्थैर्य-बिन्दु का ऊर्ध्वीकरण)।

---

१. रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति।
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभि:।।
न रोगो मरणं तन्द्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा।
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्।।
पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा।
बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्।।
खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वत:।
न तस्य सरते बिन्दु: कामिन्या श्लेषितस्य च।।
चलितोऽपि यदा बिन्दु: सम्प्राप्तो योनिमण्डलम्।
व्रजत्यूर्ध्वं हृत: शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया।।
ऊर्ध्वजिह्व: स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति य:।
मासार्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवित्।।
(हठयोगीप्रदीपिका-३.३८-४४)

जो योगी तालु के ऊपर के छिद्र में क्षणार्ध भी स्थिर रहता है, वह धातुओं के वैषम्य-रूप व्याधि एवं मृत्यु-जरा-वार्धक्य तथा वृश्चिक-सर्पादि-दंश के विष-प्रभाव से मुक्त रहता है।

वह योगी, जो खेचरी मुद्रा को जानता है— रोग, मृत्यु एवं अन्तःकरण की तमोगुणी वृत्तिरूप तन्द्रा, निद्रा, क्षुधा, तृषा एवं (तमोगुणात्मिक) मूर्च्छा आदि के दुष्परिणामों एवं इनकी समस्त दशाओं से मुक्त रहता है। वह योगी रोग की पीड़ा से कभी पीड़ित नहीं होता और न तो काल के पाश में बाँधा ही जा पाता है। जिस योगी ने खेचरी मुद्रा से लम्बिका (तालु) के ऊर्ध्ववर्ती छिद्र (कपालकुहर) को आच्छादित कर लिया है, वह कामिनियों के मृदु स्पर्श से भी अक्षुब्ध रहता है तथा उसका शुक्र (रेतस्) कभी भी क्षरित नहीं होता। उसका बिन्दु (शुक्र) मस्तक से नीचे कभी गिरता ही नहीं। यदि उसका बिन्दु चलायमान होता भी है और मदनागार में गिर भी जाता है तो योगी योनिमुद्रा (जननेन्द्रिय-संकोचन) के द्वारा वज्रोली क्रिया की सहायता से उसे ऊपर खींचकर पुनः सुषुम्णा मार्ग द्वारा मस्तक में चढ़ा लेता है—

चलितोऽपि यदा बिन्दुः सम्प्राप्तो योनिमण्डलम्।
व्रजत्यूर्ध्वं हृतः शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया।।

जो योगी कपालकुहर में गिरते हुए चन्द्रामृत का पान करता है (ऊर्ध्व छिद्र में गिरे हुए पीयूष का पान करता है), वह योगज्ञाता योगी पन्द्रह दिनों में ही मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है। जिस योगी का शरीर नित्य चन्द्रकला (अमृत) से पूर्ण रहता है, उसके शरीर को यदि तक्षक नाग भी काट ले तो उसके शरीर पर उसके विष का कोई प्रभाव नहीं होता।

जिस प्रकार अग्नि को यदि लकड़ी मिलती रहे तो वह कभी नहीं बुझती और यदि दीपक को तेल मिलता रहे तो वह भी नहीं बुझता; ठीक उसी प्रकार यदि शरीर को ब्रह्मरन्ध्र से गिरने वाला सोमकलात्मक अमृत प्राप्त होता रहे तो जीवात्मा ऐसे शरीर का कभी त्याग नहीं करता अर्थात् ऐसा अमृतप्राप्त शरीर मृत्युञ्जयी होता है, मृत्युपाश से अतीत होता है। इसीलिये योगी के लिए यह विधान है कि वह प्रतिदिन गोमांस का भक्षण करे और वारुणी (सुरा) का सेवन करे।

गोमांस-भक्षण का अर्थ— गोमांस के भक्षण का अर्थ गौ नामक पशु के मांस का भक्षण नहीं है; प्रत्युत जिह्वा के मूल को सात-सात दिनों पर सूत्र की मोटाई में काटना है। चूँकि इस विधान में जिह्वा के मांस को काटना पड़ता है; अतः उसका लाक्षणिक अर्थ 'मांस-भक्षण' हो गया। किन्तु इस अर्थ ने भी अपने निहितार्थ की अभिव्यक्ति नहीं की और उसका अर्थ 'जिह्वा को तालुप्रदेश में प्रविष्ट कराना' ही स्वीकार किया गया है—

गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम्।।[१]

यह यौगिक साधना वाला (खेचरीगत) गोमांस-भक्षण बड़े से बड़े पाप को भी नष्ट कर देता है।

अमरवारुणी का अर्थ— वैसे तो अमरवारुणी का अर्थ है— देवताओं की शराब या अमरत्व प्रदान करने वाली शराब; किन्तु वस्तुत: यह कोई सुरा (शराब) है ही नहीं; प्रत्युत यह ब्रह्मरन्ध्र में स्थित चन्द्रमा से चूने वाला अमृत है। खेचरी मुद्रा सिद्ध हो जाने पर उपर्युक्त ऊर्ध्वजिह्व योगी उपर्युक्त (ब्रह्मरन्ध्र से स्रवित) पीयूष को पीने लगता है। यह ब्रह्मरन्ध्रस्थ चन्द्रमा से नि:सृत अमृत ही अमरवारुणी की आख्या से प्रसिद्ध है—

जिह्वाप्रवेशसम्भूतवह्निनोत्पादित: खलु।
चन्द्रात् स्रवति य: सार: स स्यादमरवारुणी।।[२]

खेचरी शब्द का अर्थ— वस्तुत: खेचरी शब्द आकाश में सञ्चरण का द्योतक है। खेचरी का अर्थ है— 'ख' (आकाश) में 'चरण' (सञ्चरण) करने वाली या कराने वाली। अभिधेय अर्थ में यह शब्द एक विशिष्ट मुद्रा को संकेतित करता है—

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी।।[३]

कपाले मूर्ध्नि कुहरं सुषिरं तस्मिन् कपालकुहरे विपरीतं प्रतीपं गच्छतीति विपरीतगा पराङ्मुखीभूता जिह्वा रसना स्यात्। भ्रुवोरन्तर्गता भ्रुवोर्मध्ये प्रविष्टा दृष्टिर्दर्शनं स्यात्। सा खेचरी मुद्रा भवति। कपालकुहरे जिह्वाप्रवेशपूर्वकं भ्रुवोरन्तर्दर्शनं खेचरीति लक्षणं सिद्धम्।।'[४]

इसी भाव को इन शब्दों में भी व्यक्त किया गया है—

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता।
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता।।

क्योंकि इस मुद्रा के द्वारा चित्त (अन्त:करण) दोनों भृकुटियों के मध्यस्थान में स्थित आकाश में विचरण करता है और जिह्वा भी दोनों भृकुटियों के मध्य में ही विचरण करती है; अत: इस 'ख' (आकाश) में सञ्चरण कराने वाली (चित्त एवं जिह्वा दोनों को आकाश मार्ग में स्थिर कराने वाली) मुद्रा को खेचरी कहते हैं। जिस मुद्रा के करने से जिह्वा भृकुटियों के मध्य भाग में स्थित आकाश में विचरण करे, उसे 'खेचरी' कहते हैं।[५]

इस मुद्राभ्यास के समय योगी की जिह्वा यदि तालु के ऊर्ध्ववर्ती विवर का निरन्तर स्पर्श

---

१. हठयोगप्रदीपिका (तृ० उप०)
२. हठयोगप्रदीपिका (तृ० उप०)
३. हठयोगप्रदीपिका (तृ० उप०)
४. ज्योत्स्ना (ब्रह्मानन्द गिरि)
५. हठयोगप्रदीपिका।

करती हुई चन्द्रकलामृत का पान करती रहे तो योगी समस्त रोगादिक व्याधियों, वृद्धावस्था एवं शस्त्राघात के प्रभावों से निर्मुक्त रहता है और साथ ही अमृतत्व की प्राप्ति करता है—

व्याधीनां हरणं जरान्तकरणं शस्त्रागमोदीरणं,
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धाङ्गनाकर्षणम्।

वह अणिमादिक सिद्धियों को भी प्राप्त कर लेता है और सिद्ध रमणियों को भी अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है।[१]

जो योगी जिह्वा को कपालकुहर (तालुरन्ध्र) में ले जाकर और जिह्वा को ऊर्ध्वमुखी करके परमशक्ति कुण्डलिनी का ध्यान करता हुआ प्राणवायु के साधन एवं हठयोग से प्राप्त कण्ठस्थ षोडशदल पद्म में गिरते हुए अमृत का पान करता है, वह रोगरहित हो जाता है और उसका शरीर कमलनाल के समान मसृण हो जाता है; साथ ही वह अमृतायित शरीर के साथ चिर काल तक जीवित रहता है—

उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबेति।
निर्व्याधिः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति।।

मेरु (सुषुम्ना) के ऊर्ध्व भाग में स्थित कपालकुहर में चन्द्रकलामृत (प्रालेय) जल रहता है। उसमें तम एवं रजोगुण से परे तथा सतोगुण से सम्पन्न विद्वान् आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करता है। यही विवर सुषुम्ना, इड़ा, पिंगला आदि प्रमुख प्राणवाहिनी नाड़ियों का उद्गम स्थान है। शरीर का सारतत्त्व चन्द्रामृत है। यह द्रवित होकर अधोगमन करता हुआ सूर्य के मुख में गिरता है। इस अमृत को नीचे गिरने से रोकने की यह क्रिया ही खेचरी क्रिया है। इसके द्वारा कायसिद्धि (शरीर का अमरत्व) प्राप्त होती है[२]—

यत्प्रालेयं प्रहितसुषिरं मेरुमूर्धान्तरस्थं
तस्मिंस्तत्त्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम्।
चन्द्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां
तद् बध्नीयात्सुकरणमथो नान्यथा कायसिद्धिः।।

नाड़ियों के पाँच स्रोतों से युक्त (इड़ा आदि नाड़ियों के प्रवाह से युक्त) विवर (कपाल-कुहर) ज्ञान का भी उद्गम स्थान है। उस शून्य निरञ्जनस्वरूप विवर में खेचरी मुद्रा स्थिर हो जाती है। प्रणवात्मक (सृष्टिमय) बीज केवल एक है। मुद्राओं में प्रधानतम मुद्रा केवल एक है और वह खेचरी है। निराधार एवं निरञ्जन परमात्मा भी मात्र एक ही है। सर्वोच्च अवस्था भी केवल एक ही है और वह है— 'मनोन्मनी'—

एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी।
एको देवो निरालम्ब एकावस्था मनोन्मनी।।[३]

घेरण्ड ऋषि का मत— जिस योगी को खेचरी मुद्रा सिद्ध हो गई हो; उसे मूर्च्छा,

१-३. हठयोगप्रदीपिका।

क्षुधा, पिपासा, आलस्य, रोग, जरा एवं वृद्धावस्था का भय नहीं रह जाता; क्योंकि ये योगी को प्रभावित नहीं कर पाते। ऐसे योगी को न आग जला सकती है और न वायु शुष्क कर सकता है। न जल उसे आर्द्र कर सकता है और न ही सर्प उसे काट सकता है। इस मुद्रा-सिद्धि से योगी के शरीर में दिव्य कान्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है। इसके द्वारा कपाल और रसना के योग से अनेक रसों का प्रादुर्भाव होता है और समाधि जैसी उच्च योगावस्था प्राप्त हो जाती है। इसके द्वारा ही रसना के योग से अनेक रस उत्पन्न हो जाते हैं। इतना ही नहीं; इस मुद्रा के द्वारा जिह्वा से विलक्षण रसों का सञ्चार होता है और विशेषाह्लाद प्राप्त होता है। इसके कारण खारे, तीते, कषाय आदि रसों का उद्रेक होता है। इसके साथ ही इसके द्वारा मक्खन, घृत, दही, दूध, तक्र, मधु, दाख एवं अमृत के स्वाद की भी अनुभूति होती है—

न च मूर्च्छा क्षुधा तृष्णा नैवालस्यं प्रजायते।।
न च रोगो जरामृत्युर्देवदेहं प्रपद्यते।
नाग्निना दह्यते गात्रं न शोषयति मारुतः।।
न देहं क्लेदयन्त्यापो दंशयेन्न भुजङ्गमः।
लावण्यं च भवेद् गात्रे समाधिर्जायते ध्रुवम्।।
कपालवक्त्रसंयोगे रसना रसमाप्नुयात्।
नानारससमुद्भूतमानन्दं च दिने दिने।।
आदौ लवणक्षारं च ततस्तिक्तकषायकम्।
नवनीतं घृतं क्षीरं दधितक्रमधूनि च।
द्राक्षारसं च पीयूषं जायते रसनादिकम्।।[१]

नित्याषोडशिकार्णव (चतुश्शतीः वामकेश्वरीमत) **के अनुसार खेचरी मुद्रा का स्वरूप**— वामकेश्वरतन्त्र या नित्याषोडशिकार्णव में खेचरी मुद्रा का स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

सव्यं दक्षिणदेशे तु दक्षिणं सव्यदेशतः।
बाहुं कृत्वा महेशानि हस्तौ सम्परिवर्त्य च।।
कनिष्ठानामिके देवि! युक्त्वा तेन क्रमेण तु।
तर्जनीभ्यां समाक्रान्ते सर्वोर्ध्वमपि मध्यमे।।
अङ्गुष्ठौ तु महेशानि मारयेत् सरलावपि।
इयं सा खेचरी नाम्ना मुद्रा सर्वोत्तमा प्रिये।।

इसका अर्थ निम्नानुसार है— 'प्रथमं सव्यं बाहुं दक्षिणदेशे दक्षिणं बाहुं सव्यदेशे

१. घेरण्ड संहिता (३/२८-३२)।

कृत्वा पुनर्हस्तौ परस्परत: सम्परिवर्त्य तत: कनिष्ठाद्वयमनामिकाद्वयं च परिवर्त्तनक्रमेण संयोज्य पुनस्तर्जनीभ्यामुभयभागत: समाक्रान्ते मध्यमाङ्गुली-सर्वोर्ध्वत: समुन्नमय्याङ्गुष्ठौ परस्परश्लिष्टौ कुर्यादितीयं खेचर्याख्या सप्तमी मुद्रा।[१]

ग्रन्थान्तर में इसका स्वरूप इस प्रकार निरूपित किया गया है—

चिबुकं योजयित्वा तु षोडशस्वरमण्डले।
चन्द्रसूर्याग्निरोधेन मूलशक्तिनिकुञ्चनात्।।

रसनामन्तरा कृत्वा अनच्के धारयेन्मन:।
एषा सा खेचरी मुद्रा उन्मानत्वं प्रयच्छति।।[२]

'ज्ञानसार' नामक ग्रन्थ में इसका स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

बिन्दुकण्ठसमायोगात् प्रविकास्य शिरोऽम्बुजम्।
चन्द्रसूर्याग्निरोधेन मूलशक्तिं निकुञ्च्य च।।

रौद्रीं कुञ्चिकयोद्घाट्य द्विरष्टकमलोदरे।
रसनामन्तरा कृत्वा नासाग्रे रोपयेद् दृशौ।।

यवमात्रं त्रिकोणं तु मीलनोन्मीलतात्मकम्।
लिहन् स्वरसनाग्रेण पिबन्नमरवारुणीम्।।

सदा समरसीभूतं मन: शून्ये निवेशयेत्।
एषा सा खेचरी मुद्रा उन्मनात्वप्रदायिनी।।[३]

खेचरी मुद्रा 'ज्ञानसार' की दृष्टि से कुछ भिन्न स्वरूप वाली है। इसमें दृष्टि को भ्रूद्वय के मध्य न रखकर नासिकाग्र पर रखने का विधान किया गया है।

तन्त्रसद्भाव में कहा गया है—

बद्ध्वा पद्मासनं योगी नाभावक्षेश्वरं न्यसेत्।
दण्डाकारं तु तत्तावन्नयेद् यावत् कखत्रयम्।।

निगृह्य तत्र तत्तूर्णं प्रेरयेत् खत्रयेण तु।
एतां बद्ध्वा महायोगी खे गतिं प्रतिपद्यते।।

'योगिनीहृदय' के चक्रसंकेत में खेचरी मुद्रा का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—

धर्माधर्मस्य संघट्टादुत्थिता वित्तिरूपिणी।
विकल्पोत्थक्रियालोपरूपदोषविघातिनी ।।

विकल्परूपरोगाणां हारिणी खेचरी तथा।
सर्वरोगहराख्ये तु चक्र संविन्मयी स्थिता।।

---

१. शिवानन्द : ऋजुविमर्शिनी।
२. अर्थरत्नावली।
३. विद्यानन्द : अर्थरत्नावली में उद्धृत।

धर्म (शक्ति) एवं अधर्म (शिव) के संघट्ट (सामरस्य) से उद्भूत संवित्तिरूपिणी विकल्पात्मक क्रियारूप दोषों का विघात करने वाली, विकल्परूप रोगों का हरण करने वाली, निर्विकल्प बोधभूमिसञ्चारिणी चिच्छक्ति सर्वरोगहर नामक चक्र में स्थित है।

खेचरी समस्त कष्टों को नष्ट करने वाली, नित्योदया, शिवत्व प्राप्त कराने वाली एवं निरस्त सकलक्रियाक्रम में निवास करने वाली चिति शक्ति है—

खे निरस्तसकलक्रियाक्रमे या चितिश्चरति शाश्वतोदया।
सा शिवत्वसमवाप्तिकारिणी खेचरी सकलखेदहारिणी।।

अपूर्णम्मन्यतालक्षणात्मक संवित्ति का विनाश करने वाली एवं सर्वरोगहर चक्र में निवास करने वाली मुद्रा ही खेचरी मुद्रा है। अमृतानन्द योगी योगिनीदीपिका में कहते हैं—
अपूर्णम्मन्यतालक्षणानां हारिणी सर्वरोगहराख्ये चक्रे खेचरी मुद्रा स्थिता।।

५. उड्डीयान बन्ध और उसका स्वरूप

योगिराज गोरक्षनाथ ने 'योगबीज' में प्रथम स्थान में मूलबन्ध एवं द्वितीय स्थान में उड्डीयान बन्ध को रक्खा है— 'प्रथमो मूलबन्धस्तु द्वितीय उड्डियानकः।' नियम यह है कि कुम्भक के आदि में तथा रेचक के अन्त में उड्डीयान बन्ध करना चाहिए। इससे सुषुम्णा में बद्ध प्राण ऊपर की ओर उड़ने लगता है। इसके करने से वृद्ध व्यक्ति भी तरुण हो जाता है—

कुम्भकादौ रेचकान्ते कर्तव्यस्तूड्डियानकः।
बद्धो येन सुषुम्णायां प्राणस्तूड्डीयके ततः।।

नाभि के ऊपर के भाग और पश्चिम द्वार को उदर के सम भाव में संकुचित करना चाहिए। उदर के मध्य भाग में स्थित गुह्यादि चक्र की सभी नाड़ियों को नाभि के ऊपर उठाने का नाम ही उड्डीयान बन्ध है। यह बन्ध मृत्युरूपी हाथी के लिए सिंह के समान है—

उदरे पश्चिमे तानं नाभेरुर्ध्वन्तु कारयेत्।
उड्डीयानं कुरुते यत्तदविश्रान्तमहाखगः।।
उड्डीयानं त्वसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेशरी।।[१]

जितने भी बन्ध हैं, उनमें उड्डीयान प्रमुख है। इसके अभ्यास से अनायास ही मुक्ति प्राप्त हो जाती है—

समग्राद् बन्धनाद्धयेतदुड्डीयानं विशिष्यते।
उड्डीयाने समभ्यस्ते मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत्।।

'दत्तात्रेय संहिता' में कहा गया है कि उड्डीयान बन्ध के अभ्यास से वृद्ध भी युवा हो जाता है। इसके छः मासों के अभ्यास से मृत्यु पर भी विजय प्राप्त हो जाती है—

१. घेरण्डसंहिता।

अभ्यसेद्यस्तु सत्त्वस्थो वृद्धोऽपि तरुणायते।
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः।।[१]

जो साधक दिन में चार बार उड्डीयान बन्ध का अभ्यास करता है, उसकी नाभि शुद्ध हो जाती है। उसकी वायु भी शुद्ध हो जाती है। छः मास तक इसका अभ्यास करने से मृत्यु पर भी विजय प्राप्त हो जाती है। इसके अभ्यास से जठराग्नि तीव्र हो उठती है और शरीर पुष्ट हो जाता है तथा रस का सञ्चार होता है। इसका अभ्यास सदैव एकान्त में करना चाहिए—

नित्यं यः कुरुते योगी चतुर्वारं दिने दिने।
तस्य नाभेस्तु शुद्धिः स्याद्येन शुद्धो भवेन्मरुत्।।

षण्मासमभ्यसेद् योगी मृत्युं जयति निश्चितम्।
तस्योदराग्निर्ज्वलति रसवृद्धिश्च जायते।।

रोगाणां संक्षयश्चापि योगिनां भवति ध्रुवम्।
गुरोर्लब्ध्वा तु यत्नेन साधयेच्च विचक्षणः।
निर्जने सुस्थिते देशे बन्धं परमदुर्लभम्।।[२]

'गोरक्षशतक' में गोरखनाथ कहते हैं कि जिस प्रकार विना विश्राम किए पक्षी भी उड़ता रहता है, उसी प्रकार उड्डीयान बन्ध मृत्युरूपी गजराज के लिए सिंह के समान है। इस बन्ध का अभ्यास उदर के पश्चिम भाग एवं नाभि के नीचे के भाग में किया जाता है। इसीलिए इसे उड्डीयान बन्ध कहा जाता है—

उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः।
उड्डीयानं तदेव स्यान्मृत्युमातङ्गकेशरी।।

उदरात्पश्चिमे भागे ह्यधो नाभेर्निगद्यते।
उड्डीयानस्य बन्धोऽयं तत्र बन्धो विधीयते।।

साधक नाभि के ऊपर और नीचे आकर्षण का प्रयोग करता है अर्थात् पेट को खींचकर पीठ में लगाने का प्रयास करता है। यही उड्डीयान बन्ध है।[३]

नाभिप्रदेश के ऊर्ध्वभाग एवं अधोभाग को मेरुदण्ड की ओर खींचकर (पीठ की ओर आकृष्ट करके) जो बन्ध लगाया जाता है, 'शिवसंहिता' में इसके तीन लक्षण दिए गए हैं—

१. पेट को पीछे की ओर इतना खींचना कि यह मेरुदण्ड से चिपक जाय। यही है— इसका आकर्षण या तानपक्ष।

२. यह समस्त दुःखों एवं पापों को नष्ट कर देता है।

---

१. घेरण्डसंहिता।
२. घेरण्डसंहिता।
३. शिवसंहिता/विवेकमार्तण्ड/गोरक्षशतक।

३. यह मृत्युरूपी हाथी के लिए सिंहस्वरूप काल है—

नाभेरुर्ध्वमधश्चापि तानं पश्चिममाचरेत्।
उड्डयानबन्ध एषः स्यात् सर्वदुःखौघनाशनः।।

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरुर्ध्वं तु कारयेत्।
उड्डयानाख्योऽत्र बन्धोऽयं मृत्युमातङ्गकेशरी।।

जिस बन्ध से बद्ध प्राण उड़कर (सहज ऊर्ध्वमुख होकर) सुषुम्ना नाड़ी में पहुँच जाता है, उसे योगियों द्वारा उड्डीयान बन्ध कहा गया है। जिस प्रकार पक्षी आकाश में निरन्तर उड़ने लगता है, उसी प्रकार सुषुम्ना नाड़ी से देहावकाश (ब्रह्मरन्ध्र) में उड़ता है। ऊपर चढ़ता जाता है, इसी कारण यह उड्डीयानबन्ध कहा जाता है—

बद्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः।
तस्मादुड्डीयनाख्याऽयं योगिभिः समुदाहृतः।।

उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः।
उड्डीयानं तदेव स्यात् तत्र बन्धोऽभिधीयते।।

नाभि के ऊपर और नीचे उदर में पीछे की ओर इस तरह आकर्षण करना चाहिए कि दोनों भाग पीछे पीठ तक पहुँच जाय तो यह उड्डीयान बन्ध मृत्युरूपी हाथी के लिए साक्षात् सिंह के समान है। गुरु द्वारा यह उड्डीयान बन्ध सदा स्वाभाविक कहा गया है। इस बन्ध का अभ्यास नित्य करने वाला यदि वृद्ध भी हो तो वह तरुण हो जाता है। नाभि के ऊपर और निचले भाग में अच्छी तरह से तान (आकर्षण या खिंचाव) करना चाहिए। साधक छः मास तक इस प्रकार अभ्यास करने से मृत्यु को भी वश में कर लेता है, दीर्घ जीवनयापन करता है तथा स्वस्थ रहता है। समस्त षोडशाधारों के बन्धों में उड्डीयान बन्ध ही प्रमुख है। इसकी सिद्धि होने पर साधक को अनायास ही मुक्ति प्राप्त हो जाती है। उड्डीयान बन्ध का अभ्यास करते समय प्राण विहंग की गति से सुषुम्ना में उड़ता है और इस तरह की समाधि की अवस्था में साधक मुक्ति को अधिगत करता है।

विशेष— दोनों जानुओं को मोड़कर पैरों के तलवों को परस्पर मिलाकर पेट के नाभि से नीचे और ऊपर आठ अंगुल हिस्से को प्रयत्नपूर्वक खींचकर रीढ़ की अस्थि (मेरुदण्ड) से लगाने पर पेट के स्थान में गड्ढा-सा दिखाई पड़ने लगता है। इससे प्राण सुषुम्णा की ओर उड़ने लगता है। यह बन्ध पैरों के तलवों को विना मिलाए भी किया जा सकता है। इससे प्राण और वीर्य ऊर्ध्वगामी होते हैं, मन्दाग्नि का नाश होता है, भूख लगती है और जठराग्नि बढ़ती है।[१]

१. हठयोगप्रदीपिका—

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत्।
उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी।।

इस प्रकार साधक को चाहिए कि वह मूलाधार को अच्छी तरह से सिकोड़कर उड्डीयान बन्ध (नाभिस्थान को पीठ की ओर मेरुदण्ड तक आकृष्ट करना) करे और इड़ा-पिंगला दोनों नाड़ियों को स्तम्भित कर (जालन्धर बन्ध लगाकर) प्राण को सुषुम्ना में पश्चिम मार्ग में प्रविष्ट करे। ऐसा करने से प्राण स्थिर हो जाता है और ब्रह्मरन्ध्र में लीन हो जाता है। प्राण का लय हो जाने पर— स्थैर्य होने पर मृत्यु का भय नहीं रह जाता, वृद्धावस्था नष्ट हो जाती है, रोगादिक का आक्रमण नहीं होता— बाल नहीं झड़ते, बाल नहीं पकते और मृत्युपाश से मुक्ति मिल जाती है। महासिद्ध योगी इन तीन (मूलबन्ध, उड्डीयान एवं जालन्धर) बन्धों का अभ्यास किया करते हैं। समस्त हठसाधनों में योगी इन बन्धों को सिद्धियाँ प्रदान करने वाला बन्ध मानते हैं। 'हठयोग प्रदीपिका' में स्वात्माराम मुनीन्द्र कहते हैं—

मूलस्थानं समाकुञ्च्य उड्डियानं तु कारयेत्।
इडां च पिङ्गलां बद्ध्वा वाहयेत् पश्चिमे पथि।।

अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम्।
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा।।

बन्धत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम्।
सर्वेषां हठतन्त्राणां साधनं योगिनो विदुः।।

स्वरोदयशास्त्र में मुद्रा एवं आसन रोगों की स्वीकृति है।

स्वरोदय शास्त्र में आसन-विधान

पद्मासन— स्वरोदय शास्त्र में मात्र पद्मासन को ही स्वीकार किया गया है; क्योंकि समस्त आसनों में पद्मासन सर्वाधिक प्रिय एवं सर्वाधिक प्रयुक्त आसन रहा है। क्या वैष्णव, क्या शैव, क्या शाक्त, क्या स्मार्त्त, क्या योगी, क्या भक्त, क्या ज्ञानी, क्या कर्मकाण्डी, क्या हिन्दू, क्या बौद्ध, क्या सिक्ख और क्या जैनी— सभी ने इसे स्वीकार किया है। भगवान् बुद्ध, महावीर, २४ तीर्थंकर, कापालिक, कौल, सिद्ध आदि सभी ने इसे ही अपनी साधना में स्थान दिया है।

योगिराज गोरक्षनाथ ने गोरक्षशतक में कहा है कि आसनों में मात्र दो ही आसन

उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा।
अभ्यसेत् सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते।।
नाभेरुर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः।
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः।।
सर्वेषामेव बन्धानामुत्तमो ह्युड्डियानकः।
उड्डियाने दृढ़े बन्धे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत्।।

श्रेष्ठतम हैं और वे हैं— सिद्धासन एवं कमलासन।

आसनेभ्यो समस्तेभ्यो द्वयमेतदुदाहृतम्।
एकं सिद्धासनं तत्र द्वितीयं कमलासनम्।।

पद्मासन की परिभाषा—

वामोरूपरि दक्षिणञ्च चरणं संस्थाप्य वामं तथा
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढ़म्।
अंगुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकये-
देतद् व्याधिविकारनाशनकरं पद्मासनं प्रोच्यते।। (गोरक्षशतक)

अर्थात् वामवर्ती जानुमूल में दाहिना पैर स्थापित करके तथा दायें जानुमूल में वाम चरण स्थापित करके तथा दोनों हाथों को पीछे से ले जाकर दायें हाथ से बायें पैर के अंगूठे एवं बायें हाथ से दायें पैर के अंगूठे को दृढ़तापूर्वक पकड़ कर चिबुक को हृदय से लगाकर नासिकाग्र को दोनों नेत्रों से देखने का विधान करने वाले तथा समस्त व्याधियों एवं शारीरिक तथा मानसिक विकारों को नष्ट करने वाले आसन को 'पद्मासन' कहते हैं।

आसनों का महत्त्व प्रत्येक साधना समाज में स्वीकृत रहा है—

ॐ आसण करि पदम आसण बंधि। पिछलै आसण पवनां संधि।।[१]

६. मूलबन्ध और उसका स्वरूप

साधक को चाहिए कि वह योनिस्थान (गुदा-मेढ़ के मध्य भाग) को किसी भी पैर की एड़ी से दबाकर गुदा को सिकोड़े (संकुचन करे) और फैलाये तथा अपान वायु को ऊपर की ओर आकृष्ट करे। यही 'मूलबन्ध' कहलाता है। वह साधन-प्रक्रिया, जिसके द्वारा साधक निम्नाभिमुखी एवं निम्नगामिनी अपान वायु को ऊपर की आकृष्ट करता है, मूलबन्ध कहलाती है। ऊपर की ओर आकृष्ट करने का लक्ष्य यह है कि वायु को सुषुम्णा में प्रवाहित करता है। इसे ही मूलबन्ध कहा जाता है।[२]

मूलबन्ध कुण्डलिनी-जागरण में सहायक होता है। मूलबन्ध का अभ्यास करते समय मेरुदण्ड में नाभिग्रन्थि दबाना चाहिए—

---

१. गोरखनाथ गो० बा० (१७३)
आसण इन्द्री जेणौ आप बसि राख्या तेसौ पाया सर्व निरंतर मेरे ज्ञानी।
(गो० बा०-८९)
मूल चपि डिट आसणि बैठा तब मिटि गया आवागवनं।

२. पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद् गुदम्। अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते।।
अधोगतिमपानं वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्। आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्ध हि योगिनः।।
(हठयोगप्रदीपिका-६१-६२)

नाभिग्रन्थि मेरुदण्डे सम्पीड्य यत्नतः सुधीः।
(घेरण्ड संहिता-३.१४)

मूलबन्ध उड्डीयान बन्ध से संयुक्त हो जाता है और अपान वायु सुषुम्णा में सुगमता से चढ़ने लगती है।

साधक को चाहिए कि एड़ी के अधोभाग से बलपूर्वक अच्छी तरह से दबाकर बार-बार वायु को गुदा का आकुञ्चन करते हुए इस प्रकार ऊपर की ओर खींचे कि वह सुषुम्ना नाड़ी में प्रविष्ट हो जाय।

निम्नगामी प्राण एवं अपान वायु, नाद एवं बिन्दु मूलबन्ध के द्वारा एकता प्राप्त करके योगसिद्धि प्रदान करते हैं। अपान वायु एवं प्राण वायु की एकता से मल-मूत्र का क्षय होने से वृद्ध व्यक्ति भी युवक हो जाता है। अपान वायु के ऊर्ध्वगामी होकर वह्निमण्डल (नाभि के नीचे त्रिकोण) में प्रविष्ट करने पर वायु से प्रताड़ित होने पर अग्निशिखा बढ़ जाती है।[१]

मूलबन्ध लगाने पर अपान एवं प्राण के साथ एक होकर सुषुम्ना में प्रवेश करता है। इससे नादाभिव्यक्ति होती है। फिर नाद के साथ ही प्राणापान हृदय प्रदेश से ऊर्ध्व प्रदेश में जाकर बिन्दु के साथ एकता स्थापित करके ऊपर उठने लगते हैं। इससे योग-सिद्धि होती है। 'ज्योत्स्ना' नामक टीका में ब्रह्मानन्द गिरि कहते हैं— मूलबन्धे कृतेऽपानः प्राणेन सहैकीभूय सुषुम्नायां प्रविशन्ति। ततो नादाभिव्यक्तिर्भवति। ततो नादेन सह प्राणापानौ हृदयोपरि गत्वा नादस्य बिन्दुना सहैक्यमाधाय मूर्ध्नि गच्छतः। ततो योगसिद्धिः।'

हमारे नाभि के नीचे के भाग में त्रिकोण वह्निमण्डल है। महर्षि याज्ञवल्क्य का कथन है—

देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजाम्बूनदप्रभम्।
त्रिकोणं तु मनुष्याणां चतुरस्रं चतुष्पदाम्।।
मण्डलं तु पतङ्गानां सत्यमेतद् ब्रवीमि ते।
तन्मध्ये तु शिखा तन्वी सदा तिष्ठति पावके।।

---

१. गुदं पाष्ण्र्या तु सम्पीड्य वायुमाकुञ्चयेद् बलात्।
वारं वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः।।
प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम्।
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः।।
अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात्।।
अपाने ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमण्डलम्।
तदानलशिखा दीर्घा जायते वायुनाहता।।
(हठयोगप्रदीपिका-६३-६६)

इस समय अपान वायु के सहित जठराग्नि की शिखा बढ़ जाती है।

इस स्थिति में अग्नि और अपान दोनों अग्नि की दीपशिखा से ऊष्ण होकर ऊर्ध्व प्रदेश की ओर गतिशील प्राणवायु में जा पहुँचते हैं। इससे देह में स्थित अग्नि अत्यन्त प्रदीप्त हो जाती है। तब उससे ताड़ित होकर कुण्डलिनी जाग्रत हो जाती है और दण्ड से आहत भुजंगिनी के सदृश श्वास लेती हुई सीधी हो जाती है। इसके बाद वह कुण्डलिनी शक्ति ब्रह्मनाड़ी (सुषुम्ना) के भीतर प्रविष्ट हो जाती है; ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार सर्पिणी बिल में प्रविष्ट हो जाती है। इसलिए योगियों के द्वारा नित्य मूलबन्ध का अभ्यास करना चाहिए।[१]

गुदा एवं लिंगस्थान के रन्ध्र को बन्द करने की संख्या मूलबन्ध है। वाम पैर की एड़ी को गुदा और लिंग के मध्य भाग में दृढ़ लगाकर गुदा को सिकोड़कर योनिस्थान को संकुचित करने के द्वारा अधोगत अपान वायु को ऊर्ध्वाकर्षित करना मूलबन्ध है। यह कब्ज को दूर करता है तथा वीर्य को पुष्ट एवं ऊर्ध्वगामी करता है। इस मुद्रा से साधक संसार-सागर से भी उत्तीर्ण हो जाता है और उसकी वायु सिद्ध हो जाती है—

संसारसमुद्रं तर्तुमभिलषति यः पुमान्।
विजनेषु गुप्तो भूत्वा मुद्रामेनां समभ्यसेत्।।

घेरण्ड ऋषि के मत से यह साधना विजन स्थान में करनी चाहिए। साधक को मौनाव-लम्बी होना चाहिए और आलस्य एवं प्रमाद से अपने को दूर करके साधना करनी चाहिए—

अभ्यासाद् बन्धनस्यास्य मरुत् सिद्धिर्भवेद् ध्रुवम्।
साधयेद् यत्नतो तर्हि मौनी तु विजितालसः।।

(घे० सं०-३.१६-१७)

'शिवसंहिता' में कहा गया है कि साधक पैर की एड़ी से गुदामार्ग को अच्छी प्रकार से दबाकर अपान वायु को खींचकर धीरे-धीरे ऊपर की ओर ले जाय, यही बुढ़ापे एवं मृत्यु के भय को नष्ट करने वाला मूलबन्ध है। इस प्रकार प्राण एवं अपान

---

१. ततो यातो वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम्।
तेनात्यन्तप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा।।
तेन कुण्डलिनी सुप्ता सन्तप्ता सम्प्रबुध्यते।
दण्डाहता भुजङ्गीव निःश्वस्य ऋजुतां व्रजेत्।।
बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत्।
तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदा।।

(हठयोगप्रदीपिका-६७-६९)

की एकता होने पर बन्ध के द्वारा योनिमुद्रा स्वत: सिद्ध हो जाती है।[१] योनिमुद्रा के सिद्ध हो जाने पर इस पृथ्वी पर साधक को समस्त योगसिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। इस मूलबन्ध के सिद्ध हो जाने पर श्रेष्ठ योगी पद्मासन में स्थित होकर वायु पर विजय प्राप्त करके पृथ्वी से क्रमश: ऊपर उठते हुए आकाश में स्थित होकर विचरण करता है। यदि योगी संसार-सागर को पार करना चाहता है तो उसे किसी निर्जन एकान्त स्थान में मूलबन्ध का अभ्यास करना चाहिए।

गोरक्षनाथ 'विवेकमार्तण्ड' में कहते हैं कि जो योगी महामुद्रा, नभोमुद्रा 'उड्डीयान बन्ध' जालन्धर बन्ध एवं मूलबन्ध का अभ्यास करना जानता है, वही मुक्ति प्राप्त करता है—

महामुद्रा नभोमुद्रामुड्डियानं जलन्धरम्।
मूलबन्धं च यो वेत्ति स योगी सिद्धिभाजनम्।।

अपानवायु एवं प्राणवायु का ऐक्य होने पर इससे मल-मूत्र का क्षय होने पर वृद्ध व्यक्ति भी तरुण हो जाता है। यह मूलबन्ध के अभ्यास से ही सिद्ध होता है। अपान वायु को ऊपर की ओर खींचकर (प्राणवायु से मिलाते हुए) पैर की एड़ी से योनिस्थान को दृढ़ता से दबाकर गुदा को सिकोड़ना चाहिए। यही मूलबन्ध का अभ्यास कहा जाता है—

अपानप्राणयोरैक्ये क्षयान्मूत्रपुरीषयो:।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात्।।

पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम्।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धो निगद्यते।।[२]

योगबीज में मूलबन्ध को प्रथम स्थान दिया गया है—

प्रथमो मूलबन्धस्तु द्वितीय उड्डियानक:।
जालन्धरस्तृतीयस्तु लक्षणं कथयाम्यहम्।।

'योगबीज' में कहा गया है कि बन्ध प्रधान हैं, जिनके नित्याभ्यास से वायु वश में हो जाता है और वे हैं— मूलबन्ध, उड्डीयान बन्ध एवं जालन्धर बन्ध। गोरखनाथ कहते हैं—

मूल चक्र वहाँ प्रगटै ज्यंदू। पलटै काया थिर होइ कंधु।
मूल बंध वज्र कछोटा पकड़िबा थीरं सत उडियांणी बंधिबा बीरं।।

---

१. पादमूलेन संपीड्य गुदमार्गं सुयन्त्रितम्।।
बलादपानमाकृष्य क्रमादूर्ध्वं सुचारयेत्। कल्पितोऽयं मूलबन्धो जरामरणनाशन:।।
अपानप्राणयोरैक्यं प्रकरोत्यधिकल्पितम्।बन्धेनानेन सुतरां योनिमुद्रा प्रसिद्ध्यति।।
सिद्धायां योनिमुद्रायां किं न सिध्यति भूतले। बन्धस्यास्य प्रसादेन गगने विजितानिल:।।
पद्मासने स्थितो योगी भुवमुत्सृज्य वर्धते।।
सुगुप्ते निर्जने देशे बन्धमेनं समभ्यसेत्। संसारसागरं तर्तुं यदीच्छेद् योगिपुङ्गव:।।
(शिवसंहिता-६४-६८)

२. गोरक्षशतक (८१-८२) विवेकमार्तण्ड।

७. माण्डूकी मुद्रा

मुख को बन्द करके जिह्वा की जड़ को तालु के ऊपर की ओर चलाना चाहिए और सहस्त्रदल पद्म से निर्गत अमृत का पान करना चाहिए। इसे ही माण्डूकी मुद्रा कहते हैं—

मुखं सम्मुद्रितं कृत्वा जिह्वामूलं प्रचालयेत्।
शनैर्ग्रसेदमृतं तां माण्डूकीमुद्रिकां विदुः।।[१]

फल— वलित (त्वचा का सिकुड़ना), पलित (बालों का श्वेत होना) रुक जाता है और यौवन चिरस्थायी हो जाता है।

८. ताड़ागी मुद्रा

उत्तान होकर लेटते हुए पेट को तालाब की भाँति गहरा करते हुए प्राणायाम करने को ताड़ागी मुद्रा कहते हैं—

उदरं पश्चिमोत्तानं कृत्वा च तडागाकृतिः।
ताडागी सा परा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी।।[२]

९. अश्विनी मुद्रा

इसमें मलद्वार को बार-बार संकुचित एवं विस्तृत करने (सिकोड़ने एवं फैलाने) का अभ्यास करना होता है; क्योंकि यह शक्तिप्रबोधकारिणी है—

आकुञ्चयेद्गुदद्वारं प्रकाशयेत् पुनः पुनः।
सा भवेदश्विनी मुद्रा शक्तिप्रबोधकारिणी।।[३]

१०. पाशिनी मुद्रा

दोनों पावों को कण्ठ की पीठ पर रखकर पाशवत् परिबद्ध होने का अभ्यास ही पाशिनी मुद्रा है—

कण्ठे पृष्ठे क्षिपेत्पादौ पाशवं दृढ़बन्धने।
सा एव पाशिनी मुद्रा शक्तिप्रबोधकारिणी।।[४]

यह मुद्रा शरीरांगों में शक्ति का सञ्चार करती है।

११. जालन्धर बन्ध और उसका स्वरूप

'शिवसंहिता' के अनुसार जालन्धर बन्ध नामक बन्ध ही पाँचवीं महामुद्रा है—

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी।
जालन्धरो.....।।

जालन्धरबन्ध की परिभाषा—

१-४. घेरण्डसंहिता।

बद्धार्गलशिराजालं हृदये चिबुकं न्यसेत्।
बन्धो जालन्धरः प्रोक्तो देवानामपि दुर्लभः।।

इस बन्ध का अभ्यास देवताओं के लिए भी दुर्लभ है— 'देवानामपि दुर्लभः।' सहस्रार से स्रवित पीयूष को नाभि में स्थित अग्नि पी जाती है। नाभि में पतित होकर नाभि-स्थित अग्नि के द्वारा इसे पीने से बचाने के लिए यह जालन्धर बन्ध किया जाता है।[१]

जालन्धर बन्ध के अभ्यास से बुद्धिमान साधक स्वयं अमृत पी लेता है और जीवन्मुक्ति-स्वरूप अमरत्व प्राप्त करके तीनों लोकों में सुखपूर्वक विचरण करता है। यह जालन्धर बन्ध सिद्धों को योग-सिद्धि प्रदान करता है। जो सिद्धि प्राप्त करने का इच्छुक है, वह योगी नित्य ही इस बन्ध का अभ्यास करता है।[२]

चूँकि यह बन्ध शिरा-नाड़ियों के समूह को बाँधता है और कपाल के छिद्ररूप नभ के जल का प्रतिबन्धक है; अतः इसे जालन्धर बन्ध कहा जाता है। यह कण्ठ के कष्टों का भी नाशक है। इसी कारण इसे जालन्धर बन्ध कहते हैं—

बध्नाति हि शिराजालमधोगामि नभोजलम्।
ततो जालन्धरो बन्धः कण्ठदुःखौघनाशनः।।[३]

इसके द्वारा अमृत जठराग्नि में नहीं पड़ने पाता और वायु का भी कोप नहीं होता; साथ ही अन्य नाड़ियों में वायु का गमन भी नहीं होता—

जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसङ्कोचचक्षणो।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति।।[४] (गोरक्षशतक)

शिराणां नाडीनां जालं समुदायं बध्नाति। अधोगन्तुं शीलमस्येत्यधोगामि नभसः कपाल-कुहरस्य जलममृतं च बध्नाति प्रतिबध्नाति। ततस्तस्माज्जालन्धरो जालन्धरनामकोऽवर्थो बन्धः जालं शिराजालं जालानां समूहो जालं धरतीति जालन्धरः।[५]

कण्ठ को संकुचित करके, हृदय पर ठोढ़ी रखकर जालन्धर बन्ध होता है। इससे सोलह प्रकार का आधार बन्ध होता है और यह मृत्यु को पराजित करता है—

कण्ठसङ्कोचनं कृत्वा चिबुकं हृदये न्यसेत्।
जालन्धरे कृते बन्धे षोडशाधारबन्धनम्।
जालन्धरं महामुद्रा मृत्योश्च क्षयकारिणी।।[६]

ग्रहयामल में कहा गया है—

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेत् चिबुकं दृढ़म्।
बन्धो जालन्धराख्योऽयममृताव्ययकारकः।।[७]

---

१. भास्करराय, सेतुबन्ध।
२. शिवसंहिता।
३-४. हठयोगप्रदीपिका।
५. ज्योत्स्ना (ब्रह्मानन्द गिरि)।
६. घेरण्डसंहिता।
७. घेरण्डसंहिता में टीकाकार द्वारा उद्धृत।

अन्य ग्रन्थों में इसका स्वरूप इस प्रकार निरूपित किया गया है—

बन्धेनानेन पीयूषं स्वयं पिबति बुद्धिमान्।
अमरत्वं च सम्प्राप्य मोदते भुवनत्रये।।

जालन्धरः बन्ध एष सिद्धानां सिद्धिदायकः।
अभ्यासः क्रियते नित्यं योगिना सिद्धिमिच्छता।।

जालन्धर बन्ध की सिद्धि— घेरण्ड ऋषि कहते हैं कि इस मुद्रा का अभ्यास छः मास करने पर ही सिद्धि मिलती है तथा यह सिद्धिप्रदायिका मुद्रा है—

सिद्धं जालन्धरं बन्धं योगिनां सिद्धिदायकम्।
षण्मासमभ्यसेद् यो हि स सिद्धो नात्र संशयः।।

गोरखनाथ ने 'गोरक्षशतक' में कहा है कि मुक्ति प्रदान करने वाले जो पाँच बन्ध हैं, उनमें महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयान बन्ध के अतिरिक्त जालन्धर बन्ध भी है—

महामुद्रां नभोमुद्रां उड्डियानं जलन्धरम्।
मूलबन्धश्च यो वेत्ति स योगी मुक्तिभाजनम्।।

इसका विधान यह है कि कण्ठ को हृदय की ओर संकुचित करके (झुकाकर) हृदय पर चिबुक को दृढ़तापूर्वक स्थापित करना चाहिए। यह मुद्रा साधक को जरा एवं मृत्यु दोनों से मुक्ति दिला देती है; क्योंकि यह दोनों की विनाशिका है—

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढ़म्।
बन्धो जालन्धराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः।।[१]

कण्ठ को हृदय की ओर झुकाकर रखने (कण्ठसंकोचन करने) से इड़ा एवं पिंगला नाड़ियों का स्तम्भन हो जाता है, प्राण सुषुम्ना से प्रवाहित होते हुए ऊर्ध्वमुख हो जाता है। इसे सोलहों आधारों का बन्धन करने वाला मध्यचक्र— कण्ठचक्र या विशुद्धचक्र समझना चाहिए। यह सोलह दल वाले विशुद्ध चक्र का अवरोधक या प्रतिबन्धक है। इससे अमृत का नीचे गिरना रुक जाता है—

कण्ठसङ्कोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तम्भयेद् दृढ़म्।
मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबन्धनम्।।[२]

१२. योनिमुद्रा

सिद्धासन से बैठकर दोनों अंगूठों से दोनों कान, दोनों तर्जनियों से दोनों आँखें, दोनों मध्यमाओं से दोनों नाक के छिद्र और दोनों अनामिकाओं से मुंह बन्द कर लेना चाहिए। काकी मुद्रा के द्वारा प्राणवायु को खींचकर अपान वायु के साथ मिला देना चाहिए। देहस्थित छः चक्रों का ध्यान करके 'हुं' और 'हंसः' इन दोनों मन्त्रों के द्वारा सोई हुई कुण्डलिनी देवी को जागृत करना चाहिए और जीवात्मा के साथ मुक्त कुण्डलिनी शक्ति

१-२. हठयोगप्रदीपिका।

को सहस्त्रदल कमल पर ले जाकर ऐसा चिन्तन करना चाहिए कि 'मैं स्वयं शक्तिमय होकर शिवजी के साथ अनेक प्रकार के विहार कर रहा हूँ।' फिर दृढ़ चित्त से ऐसा चिन्तन करना चाहिए कि 'शिव-शक्ति के संयोग से आनन्दस्वरूप होकर मैं ही ब्रह्मस्वरूप में स्थित हूँ।' इसके अभ्यासकाल में ब्रह्मचर्य अत्यावश्यक है।

१३. अगोचरी मुद्रा

नासिका के अग्रभाग पर मन को दृढ़तापूर्वक स्थिर करने (दृष्टि-स्थिरीकरण) को ही अगोचरी मुद्रा कहते हैं।

१४. भूचरी मुद्रा

नासिकाग्र से चार अंगुल दूर आकाश में मन को पूर्णतया स्थिर करने को भूचरी मुद्रा कहते हैं।

१५. चाचरी मुद्रा

आज्ञाचक्र में मनः-स्थिरीकरण ही चाचरी मुद्रा है। इसे भूचरी मुद्रा भी कहते हैं।

१६. ज्ञान मुद्रा

पद्मासन, सिद्धासन या अन्य किसी आसन से बैठकर दोनों हाथों के पञ्जे घुटने पर खोलकर रखे तथा तर्जनी उँगलियों को अंगूठों के मध्य में इस प्रकार लगाये कि गोल छल्ला सा बन जाय। इसी मुद्रा से ध्यान किया जाता है।

१७. विपरीतकरणी मुद्रा और उसका स्वरूप

योग की साधना करने वाले को इस मुद्रा के अभ्यास के समय अपने शिर को पृथ्वी पर टिकाकर एवं दोनों पैरों को आकाश में एक-सीध में रखकर शरीर को स्थिर रखते हुए इसका अभ्यास करना चाहिए। इसे ही समस्त तन्त्रग्रन्थों में विरीतकरणी मुद्रा कहा गया है। जो साधक इसका अभ्यास प्रतिदिन तीन घण्टों तक करता है, वह मृत्यु को अपने वश में कर लेता है। प्रलय काल में भी उसका विनाश नहीं होता। जो विपरीतकरणी का अभ्यास करके अमृतपान करता है, वह सिद्धों के समान महान् एवं शक्तिशाली हो जाता है। ऐसा अभ्यासी त्रिलोकपूज्य हो जाता है। शिवसंहिताकार की यही दृष्टि है।[१]

घेरण्ड ऋषि का मत— घेरण्ड ऋषि 'घेरण्डसंहिता' में कहते हैं कि नाभि में सूर्य

---

१. भूतले स्वशिरो दत्ता खे नयेच्चरणद्वयम्।विपरीतकृतिश्चैषा सर्वतन्त्रेषु गोपिता।।
एतद् यः कुरुते नित्यमभ्यासं याममात्रतः।मृत्युं जयति सः योगी प्रलये नापि सीदति।।
कुरुतेऽमृतपानं यः सिद्धानां समतामियात्।स सेव्यः सर्वलोकानां बन्धमेनं करोति यः।।
(शिवसंहिता-६९-७१)

एवं तालुमूल में चन्द्र है। सहस्रार में सुधा का नित्य प्रवाह होता रहता है। सूर्य द्वारा अमृत-पान कर लेने से जीव की मृत्यु हो जाती है।

सूर्य नीचे है और चन्द्र ऊपर है। यदि विपरीत क्रम में (इस विपरीतकरणी मुद्रा के माध्यम से) सूर्य को ऊपर एवं चन्द्रमा को नीचे कर दिया जाय तो इस मुद्रा को विपरीत-करणी मुद्रा कहा जाता है। इसके द्वारा अमृत सूर्य को (कुण्डलिनी को, त्रिकोणमय अग्नि को) प्राप्त न होकर स्वयं साधक को प्राप्त होने लगता है। इसे पीकर साधक अमर हो जाता है। इस मुद्रा में शिर को पृथ्वी में लगाकर, दोनों हाथों की टेक लेकर एवं दोनों पावों को उठाकर शिर को स्थिर रखना चाहिए।[१]

घेरण्ड ऋषि के मतानुसार सूर्य का यथार्थ वासस्थान नाभि का मूल प्रदेश एवं चन्द्रमा के निवास का मूल स्थान तालु का मूल है। चन्द्रमा से स्रवित अमृत को मृत्यु पी जाती है— 'अमृतं ग्रसते मृत्यु:'। इसी कारण जीव मृत्युधर्मा है; अन्यथा वह भी अमर हो जाय— 'ततो मृत्युवशो नर:।' यह मुद्रा योगशास्त्र की नहीं; प्रत्युत तन्त्रशास्त्र की है और सभी तन्त्रों में स्वीकृत, उल्लिखित है तथा गोपनीय है—

विपरीतकरी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता।

स्वात्माराम मुनीन्द्र का अभिमत— तालुमूल में स्थित चन्द्रमा से जो कुछ भी पीयूष (सोमकला जल) द्रवित होकर स्रवित होता है, उसे नाभिप्रदेश में स्थित अनलात्मक सूर्य पी जाता है। जैसे राहु सूर्य को ग्रस लेता है, वैसे ही इस अमृत को सूर्य ग्रस लेता है। इस अमृत को सूर्य के मुख में गिरने से बचाने के लिए गुरु के उपदेश (मार्गदर्शन) द्वारा दिव्य करणस्वरूप विपरीतकरणी मुद्रा को जानना चाहिए। यह करोड़ों शास्त्रों के अर्थ (शास्त्रार्थ) से भी ज्ञेय नहीं है। इसीलिए कहा गया है कि इसे गुरु के उपदेश से जानना चाहिए।[२]

---

१. नाभिमूले वसेत् सूर्यस्तालुमूले च चन्द्रमा:।
अमृतं ग्रसते मृत्युस्ततो मृत्युवशो नर:।।
ऊर्ध्वं च जायते सूर्यश्चन्द्रं च अध आनयेत्।
विपरीतकरी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता।।
भूमौ शिरश्च संस्थाप्य करयुग्मा समाहित:।
ऊर्ध्वपाद: स्थिरोभूत्वा विपरीतकरी मता।।
(घेरण्डसंहिता-३२-३५)

२. यत्किञ्चित् स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपिण:।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुत:।।
तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखञ्चनम्।
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभि:।।
(स्वात्माराम मुनीन्द्र)

गुरु गोरक्षनाथ ने भी गोरक्षसंहिता (२.३२-३) में कहा है कि अग्निरूपी सूर्य नाभि में रहता है तथा अमृतस्वरूप चन्द्रमा तालुमूल में नित्य निवास करता है। तालुमूल में नीचे की ओर मुख करके रहने वाला चन्द्रमा जिस अमृत की वर्षा करता है, उसे ऊर्ध्व-मुखी अग्निस्वरूप सूर्य नाभि में पी लेता है। जो योगी विपरीतकरणी मुद्रा को जानते हैं, वे उस अमृत को अग्नि के मुख से छीनकर अपने मुख में ही रख लेते हैं—

नाभिदेशे वसत्येको भास्करो दहनात्मकः।
अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमूले च चन्द्रमाः।।

वर्षत्यधो मुखश्चन्द्रो ग्रसत्यूर्ध्वो मुखो रविः।
ज्ञातव्या करणी तत्र यथा पीयूषमाप्यते।।

जिस यौगिक क्रिया में नाभि ऊपर की ओर और तालु नीचे की ओर हो जाय अर्थात् सूर्य की स्थिति ऊपर एवं चन्द्रमा की स्थिति (अवस्थान) नीचे जो जाय, वह शीर्षासन-स्वरूप योगप्रक्रिया विपरीतकरणी मुद्रा है। यह गुरुवाक्यलभ्या है। जो इस मुद्रा का नित्य प्रति अभ्यास करता है, उसकी जठराग्नि प्रदीप्त हो उठती है और वह यथारुचि अधिक आहार ग्रहण कर सकता है। यदि आहार कम लिया गया तो जठराग्नि उसके शरीर को तत्काल परिदग्ध करने लगती है। अभ्यासारम्भ में प्रथम दिन केवल क्षणमात्र के लिए सिर को नीचे एवं पैरों को ऊपर करके इसका अभ्यास करना चाहिए; देर तक नहीं।[१]

ब्रह्मानन्द 'ज्योत्स्ना' में कहते हैं— 'अधः अधोभागे भूमौ शिरो यस्य सोऽधःशिराः कराभ्यां कटिप्रदेशमवलम्ब्य बाहुमूलादारभ्य कूर्परपर्यन्ताभ्यां बाहुभ्यां स्कन्धाभ्यां गलपृष्ठ-भागशिरःपृष्ठभागाभ्यां भूमिमवष्टभ्याधःशिरा भवेत्।'

इस मुद्रा के अभ्यासकाल को प्रत्येक दिन एक क्षण से अधिक क्षण तक क्रमशः बढ़ाते हुए इसकी साधना की जानी चाहिए। यदि छः मासों तक इसका प्रतिदिन अभ्यास किया जाय तो—

(क) केश कभी नहीं पकते।

(ख) एक प्रहर (ढाई से तीन घड़ी) पर्यन्त इस मुद्रा का अभ्यासी मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है।

(ग) प्रारब्ध कर्मों के फलोपभोग भी क्षीण हो जाते हैं।[२]

---

१. ऊर्ध्वनाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी। करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते।।
नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी। आहारो बहुलस्तस्य सम्पाद्यः साधकस्य च।।
अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात्। अधःशिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात् प्रथमे दिने।।
(हठयोगप्रदीपिका-७९-८१)

२. क्षणाच्च किञ्चिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने। वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते।
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित्।। (हठयोगप्रदीपिका-८२)

ब्रह्मानन्द गिरि का अभिमत— 'ज्योत्स्ना' नामक टीका में ब्रह्मानन्द जी कहते हैं कि दोनों हाथों से कटिप्रदेश को पकड़कर बाहुमूल से कूर्परपर्यन्त कन्धों, गर्दन एवं सिर के पिछले भाग को भूमि पर स्थित करना चाहिए।

१८. वज्रोली मुद्रा और उसका स्वरूप

हठयोगयोगप्रदीपिका एवं शिवसंहिता के अनुसार वज्रोली मुद्रा नवीं मुद्रा है—

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी।
उड्यानं मूलबन्धश्च बन्धो जालन्धराभिधः।।

करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम्।
इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम्।।

(हठयोगप्रदीपिका-६-७)

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी।
जालन्धरो मूलबन्धो विपरीतकृतिस्तथा।।

उड्डानं चैव वज्रोली दशमं शक्तिचालनम्।
इदं कि मुद्रादशकं मुद्राणामुत्तमोत्तमम्।।

(शिवसंहिता-२४-२५)

घेरण्ड ऋषि ने घेरण्डसंहिता में वज्राली मुद्रा का भी उल्लेख किया है, जिसका स्वरूप वज्रोली मुद्रा से साम्य नहीं रखता। इसमें कहा गया है कि दोनों हाथों को पृथ्वी पर स्थिर भाव से टिकाकर दोनों पैरों एवं मस्तक को आकाश में उठा देने को वज्राली मुद्रा कहते हैं—

धरामवष्टभ्य करयोस्तलाभ्यामूर्ध्वं क्षिपेत्पादयुगं शिरः खे।
शक्तिप्रबोधाय चिरजीवनाय वज्रालिमुद्रां कवयो वदन्ति।।

वज्राली मुद्रा— वज्राली मुद्रा को श्रेष्ठतम योगमुद्रा कहते हुए यह कहा गया है कि यह मुक्ति का कारण तथा परमोपकारी एवं सिद्धिप्रद है। इससे (वज्रोली-साधना की भाँति) बिन्दु-सिद्धि, ऊर्ध्वरितस्त्व-सिद्धि, शुक्रास्खलन-सिद्धि प्राप्त होती है और परिणामतः बिन्दुसिद्धि के अनन्तर ऐसा कोई भी कार्य है ही नहीं, जो कि सफल नहीं होता? कौन सा प्राप्तव्य है, जो हस्तगत नहीं होता? इसके द्वारा तो भोगियों को भी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं—

अयं योगो योगश्रेष्ठो योगिनां मुक्तिकारणम्।
अयं हितप्रदो योगो योगिनां सिद्धिदायकः।।

एतद् योगप्रसादेन बिन्दुसिद्धिर्भवेद् ध्रुवम्।
सिद्धे बिन्दौ महायत्ने किं न सिध्यति भूतले।।

भोगेन महता युक्तो यदि मुद्रां समाचरेत्।
तथापि सकला सिद्धिस्तस्य भवति निश्चितम्।।

घेरण्ड ऋषि ने वज्रोली, अमरोली, सहजोली आदि का उल्लेख नहीं किया है; किन्तु हठयोगप्रदीपिका में इनका उल्लेख ही नहीं; अपितु इनके स्वरूप की विशद विवेचना भी की गई है।

शिवसंहिता में वर्णित वज्रोली का स्वरूप— भगवान् शिव कहते हैं कि वज्रोली मुद्रा—

१. संसार में व्याप्त अज्ञानान्धकार की विनाशिका है।

२. गृहस्थों को भी (योगोक्त नियमों का पालन न करने पर भी) मुक्ति दिलाने वाली एक अनुत्तर योगविधि है।

३. भोगपरायण व्यक्ति को भी मोक्ष दिलाती है।

४. योग में सिद्धि दिलाकर अमृतपान कराती है।

५. साधक के शरीर को दिव्य बना देती है।

६. साधक को शिवस्वरूप बना देती है (शिवतुल्य महिमान्वित कर देती है)।

७. बिन्दु में स्थैर्य लाकर उसे स्खलनातीत कर देती है।

८. समस्त प्रकार के भोगों का आस्वादन कराती है।

९. समस्त सिद्धियाँ प्रदान करती है।

१०. सर्वार्थसिद्धि एवं प्राकाम्य-सिद्धि के साथ ही साधक को लोकोत्तर सिद्ध बना देती है।

११. समस्त मनोरथों की सिद्धि प्रदान कर देती है।

१२. साधक को (भोगपरायण होते हुए भी) ऊर्ध्वरेतस् ब्रह्मचारी एवं अस्खलित योगी बना देती है।

भगवान् शिव पार्वती से कहते हैं कि वज्रोली भोगैषणा-परायण गृहस्थों को भी विरक्त योगी, ऊर्ध्वरेतस् ब्रह्मचारी बना देती है। अज्ञान-तिमिर का ध्वंस करने वाली यह वज्रोली भोगासक्त गृहस्थों को भी महामुक्ति प्रदान करती है।[१]

वज्रोली की साधना-पद्धति— इसके विधानानुसार साधक नारी की जननेन्द्रिय से रज को उपस्थनाल में आकृष्ट करके अपने शरीर में प्रविष्ट करके तथा बिन्दु को निरुद्ध करके जननेन्द्रिय-चालन करे। यदि संयोगवश बिन्दु अपने स्थान से खलित हो जाय तो साधक को चाहिए कि वह योनिमुद्रा के द्वारा उसे निबद्ध करे। बिन्दु को निबद्ध करके ऊपर की ओर ले जाकर वाम भाग में स्थित करके योगी गुरु के आदेशानुसार 'हुं हुं' का उच्चारण

---

१. वज्रोलीं कथयिष्यामि संसारध्वान्तनाशिनीम्। स्वभक्तेभ्यः समासेन गुह्याद् गुह्यतमामपि।।
स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तनियमैर्विना। मुक्तो भवति गार्हस्थ वज्रोल्यभ्यासयोगतः।।
वज्रोल्यभ्यासयोगोऽयं भोगे युक्तेऽपि मुक्तिदः। तस्मादतिप्रयत्नेन कर्तव्यो योगिभिः सदा।।
(शिवसंहिता-७८-८०)

करके लिंग का चालन करे तथा अपान वायु को आकुञ्चित करके बलपूर्वक रज का योनि से आकर्षण करे। इस विधि से योगी योग की शीघ्र ही सिद्धि के लिए अमृतपान करता है। गुरु के चरणकमल का पूजक योगी अपने शरीर में चन्द्रस्वरूप बिन्दु और सूर्यस्वरूप रज दोनों को प्रविष्ट करता है।

भगवान् शिव कहते हैं कि मैं बिन्दुस्वरूप हूँ और शक्ति रजस्वरूपिणी है। योगी के शरीर में इन दोनों के सामरस्य से शरीर का दिव्यीकरण निष्पन्न होता है। शरीर से शुक्र-स्खलन ही मृत्यु है और बिन्दु को धारण करना ही जीवन है। योगसाधक को बड़ी सावधानी से बिन्दु की रक्षा करनी चाहिए। भगवान् शिव पार्वती से कहते हैं—

अहं बिन्दू रजः शक्तिरुभयोर्मेलनं यदा।
योगिनां साधनावस्था भवेद् दिव्यं वपुस्तदा।।

मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्।
तस्मादतिप्रयत्नेन कुरुते बिन्दुधारणम्।।

बिन्दु से ही प्राणी का जन्म होता है और उसी से मृत्यु होती है। बिन्दु ही उसके शरीर प्राप्त करने में कारण है और बिन्दु का अभाव हो जाने से ही शरीर की मृत्यु हो जाती है। बिन्दु की ही सिद्धि करनी चाहिए। इसकी रक्षा करने में सभी सिद्धियाँ सहज, सुलभ हैं। इसकी सिद्धि से पृथ्वी पर भला क्या सिद्ध नहीं हो सकता? बिन्दु-रक्षा के परिणाम-स्वरूप ही शिव इतने महिमाशाली बने हुए हैं। शरीर में स्थित बिन्दु का अभाव होना ही संसार में आसक्त, माया-विमोहित एवं वार्धक्य तथा मृत्यु के कवलीभूत प्राणियों के दुःखों का कारण है। बिन्दु-रक्षारूप यह शांकर योग सभी के लिए सर्वोत्तम है। भोगयुक्त मानव भी बिन्दु-रक्षा (वज्रोली मुद्रा का अभ्यास) से सिद्धि प्राप्त कर लेता है। वह समस्त मनोरथों की प्राप्ति भी कर लेता है तथा सिद्ध भी हो जाता है। इस वज्रोली के अभ्यास से साधक समस्त भोगों का आस्वादन करता है और समस्त सिद्धियाँ अधिगत कर लेता है।[१]

१९. अमरोली मुद्रा और उसका स्वरूप

अमरोली और सहजोली भी वज्रोली की ही सहायक क्रियायें हैं। शिवसंहिता में कहा गया है कि यदि दैवयोग से वीर्य अपने स्थान से उत्तेजनापूर्वक चलायमान हो जाय और साधक रज-बिन्दु के ऐक्य में सफल हो जाय तो यही अमरोली मुद्रा है। इसमें साधक

---

१. अभ्यासात् सिद्धिमाप्नोति भोगयुक्तोऽपि मानवः।
सकलः साधितार्थोऽपि सिद्धो भवति भूतले।।
भुक्त्वा भोगानशेषान् वै योगेनानेन निश्चितम्।
अनेन सकला सिद्धिर्योगिनां भवति ध्रुवम्।
सुखभोगेन महता तस्मादेनं समभ्यसेत्।।
(शिवसंहिता-९३-९४)

लिंगनाल से (वीर्यवाहिनी नाड़ी से) रज-बिन्दु का शोषण करता है। शिवसंहिता (४.८६) में बिन्दु को चन्द्रमा और रज को सूर्य कहा गया है। अमरोली मुद्रा को शिवसंहिता में इस प्रकार पारिभाषित किया गया है—

देवाच्चलति चेद् वेगे मेलनं चन्द्रसूर्ययोः।
अमरोलिरियं प्रोक्ता लिङ्गनालेन शोषयेत्।।

हठयोगप्रदीपिका में अमरोली को वज्रोली का ही एक प्रकार बताकर उसे उससे अभिन्न सिद्ध किया गया है—

सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकतः।
जले सुभस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसम्भवम्।।

वज्रोली, सहजोली एवं अमरोली— इन तीनों का फल एक ही है।

वज्रोली मुद्रा की सिद्धि के लिए मैथुनानन्तर स्त्री एवं पुरुष दोनों को (दग्ध गोमय को जल में डालकर बनाये गये) भस्म का अपने मस्तक, शिर, नेत्र, हृदय, स्कन्ध एवं भुजाओं पर लेप लगाना चाहिये—

जले सुभस्म निक्षिप्य दग्ध गोमयसम्भवम्।
वज्रोली मैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वाङ्गलेपनम्।
आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात्।।

सहजोली के विषय में मात्र इतना ही कहा गया है कि दग्ध गोमय को जल में मिलाकर निर्मित भस्म का मस्तकादि अंगों पर लेप किया जाना चाहिए। इस भस्म-लेपन क्रिया को मत्स्येन्द्र आदि योगियों ने सहजोली मुद्रा कहा है—

सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रद्धेया योगिभिः सदा।
अयं शुभकरो योगो भोगयुक्तोऽपि मुक्तिदः।।

यह योग केवल पुण्यात्माओं, धैर्यवानों, तत्त्वदर्शियों एवं मत्सरहीन साधकों को ही सिद्ध होता है; मत्सरशीलों को नहीं—

अयं योगः पुण्यवतां धीराणां तत्त्वदर्शिनाम्।
निर्मत्सराणां सिध्येत न तु मत्सरशालिनम्।।

अमरोली का स्वरूप— अमरोली क्रिया का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—

पित्तोल्बणत्वात्प्रथमाम्बुधारां विहाय निःसारतयान्त्यधारा।
निषेव्यते शीतलमध्यधारा कापालिके खण्डमतेऽमरोली।।

अर्थात् अधिक पित्त वाली प्रारम्भिक बिन्दुधारा और सार अंश से शून्य एवं अन्त की बिन्दुधारा का त्याग करके शीतल मध्य धारा (चन्द्रामृत) का ही इस मुद्रा में सेवन किया जाता है। इसे खण्ड कापालिकमत में अमरोली कहा जाता है।

साधक नासिका द्वारा अमरी (शिवाम्बु) का नित्य पान करते हुए वज्रोली मुद्रा के द्वारा वीर्य के ऊर्ध्वाकर्षण का अभ्यास करता है। उसका यह अभ्यास अमरोली कहलाता है—

अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन् दिने दिने।
वज्रोलीमभ्यसेत् सम्यगमरोलीति कथ्यते।।

अमरोली के अभ्यास से निःसृत सुधा चन्द्रामृत को विभूति (भस्म) में मिलाकर उत्तम अंगों (सिर, कपाल, नेत्र, कन्धे, कण्ठ एवं हृदय) आदि में लेप करना चाहिए। इससे साधक की दृष्टि दिव्य हो जाती है—

अभ्यासान्निःसृतां चान्द्रीं विभूत्या सह मिश्रयेत्।
धारयेदुत्तमाङ्गेषु दिव्यदृष्टिः प्रजायते।।

यदि नारी अच्छी तरह अभ्यास में निपुणता प्राप्त करके वज्रोली मुद्रा के द्वारा पुरुष के वीर्य का आकुञ्चन करके (आकर्षण करके) रज की रक्षा करती है तो वह योगिनी होती है। इस प्रकार के अभ्यास से नारी का रज तनिक भी नष्ट नहीं होता। उसके शरीर में मूलाधार से समुत्थित नाद हृदय के ऊर्ध्व भाग में पहुँचकर बिन्दुरूप हो जाता है—

तस्याः किञ्चिद् रजोनाशं न गच्छति न संशयः।
तस्याः शरीरे नादश्च बिन्दुतामेव गच्छति।।

अमृतसिद्धि-नामक ग्रन्थ में इसका स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

बीजं च पौरुषं प्रोक्तं रजश्च स्त्रीसमुद्भवम्।
अनयोर्बाह्ययोगेन सृष्टिं सञ्जायते नृणाम्।।

यदाभ्यन्तरयोगः स्यात्तदा योगीति गीयते।
बिन्दुश्चन्द्रमयो प्रोक्तो रजः सूर्यमयं तथा।।

अनयोः सङ्गमादेव जायते परमं पदम्।
स्वर्गदो मोक्षदो बिन्दुः धर्मदोऽधर्मदस्तथा।
तन्मध्ये देवताः सर्वास्तिष्ठन्ते सूक्ष्मरूपतः।।

अर्थात् पुरुष के वीर्य एवं नारी के रज के बाह्य योग से सन्तानोत्पत्ति होती है। दोनों का आन्तरिक योग होने पर ही योगी कहा जाता है। बिन्दु चन्द्रात्मक एवं रज सूर्यात्मक है। इनके योग से परमपद की प्राप्ति होती है। बिन्दु स्वर्ग, मोक्ष, धर्म एवं अधर्म— सब कुछ प्रदान करता है। सूक्ष्म रूप से सभी देवता इसमें निवास करते हैं—

वज्रोली मुद्रा के अभ्यास से बिन्दु एवं रज एक होकर अपने ही शरीर में एक हो जायँ तो समस्त सिद्धियाँ प्रदान करते हैं। जो नारी योनि के संकोच द्वारा रज को ऊर्ध्व करके रक्षा करती है, वह योगिनी है। वह भूत एवं भविष्य को जानती है तथा उसे खेचरी की सिद्धि प्राप्त होती है। वज्रोली के अभ्यासयोग से देहसिद्धि (रूप-लावण्य आदि)

की प्राप्ति होती है। यह योग अत्यन्त पुण्यकारक है। भोगों को भोगने पर भी यह योग मोक्ष प्रदान करता है।

वज्रोली, सहजोली एवं अमरोली का उद्देश्य— इसका उद्देश्य है— शरीर में बिन्दु की रक्षा। इस मुद्रा से बिन्दु एवं रज के एक होकर ऊर्ध्वमुख होने से देह-सिद्धि, योगसिद्धि एवं मुक्ति या स्वरूपावस्था की प्राप्ति होती है। यद्यपि वज्रोली योगसिद्ध पुरुषों की साधना की गहन अनुभूति है तथापि कौलों, कापालिकों एवं अन्य वामाचारी तान्त्रिकों ने इसे वासना-तुष्टि का साधनमात्र बना लिया। योगी का उद्देश्य वीर्य को ऊर्ध्वमुख करना है तथा योगिनी का उद्देश्य रज को ऊर्ध्वगामी करने में निहित है। बिन्दु एवं रज की ऊर्ध्वमुखी एकता से कायसिद्धि, योगसिद्धि एवं तत्त्वसाक्षात्कार सम्पन्न हुआ करते हैं। मूलाधार (मूल बन्ध) द्वारा अपान वायु (चन्द्र) एवं प्राणवायु (सूर्य) को नाभिस्थान में संस्थित करके वज्रोली के द्वारा सुषुम्नामार्ग से ऊर्ध्वमुख करके ब्रह्मरन्ध्र में स्थापित करना भी वज्रोली का उद्देश्य है।

योगतत्त्वोपनिषद् में वज्रोली की महत्ता इस प्रकार बतायी गई है—

वज्रोलीमभ्यसेद् यस्तु स योगी सिद्धिभाजनम्।
लभ्यते यदि तस्यैव योगसिद्धिः करे स्थिता।
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद् ध्रुवम्।।

वज्रोली की सिद्धि से—

१. योगी भूत एवं भविष्य दोनों को जान जाता है।

२. वह आकाश-सञ्चरण की शक्ति भी आयत्त कर लेता है।

३. वह जननेन्द्रिय से स्खलित अपने शुक्र को नारी के जननेन्द्रिय से आकृष्ट कर सकता है।

४. वह नारी के रज को भी खींच सकता है।

५. वह जननेन्द्रिय में स्रवित बिन्दु को रज के साथ मिश्रित करके उसे पुनः अपने शरीर में आकृष्ट कर सकता है।

६. वह भोगी होते हुये भी योगी एवं ब्रह्मचारी बन सकता है।

७. वज्रोली वीर्यस्खलन रोकने वाली क्रिया है। अमरोली स्खलित बिन्दु को भी नारी के रज के साथ मिश्रित करके अपने शरीर में खींच लेने की क्रिया है ।

८. अभ्यास के काल में प्राण एवं अपान को एकीभूत करके सुषुम्ना मार्ग से ऊर्ध्वगामी करने हेतु पवन पर विजय आवश्यक है।

गोरक्षनाथ ने गोरखबानी (सबदी १४१) में इस विधान को स्वीकार किया है—

बजरी करंतां अमरी राखै अमरिं करंतां बाई।
भोग करंतां जे ब्यंद राषै ले गोरख का गुरभाई।

वज्रोली मुद्रा (हठयोगप्रदीपिका की दृष्टि से)— जो योगी वज्रोली मुद्रा का अभ्यास करना जानता है, वह योगशास्त्र के नियमों के पालन के विना भी अपनी इच्छा से जीवन-धारण करते हुए सिद्धि प्राप्त कर लेता है। वज्रोली के साधक के लिए दो दुर्लभ वस्तुयें अत्यावश्यक हैं— दूध एवं आज्ञाकारिणी नारी—

तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित्।
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी।।

वज्रोली मुद्रा का स्वरूप इस प्रकार है कि पुरुष या नारी बिन्दुप्रवाह को ऊर्ध्व प्रदेश में आकर्षित करे। लिङ्गेन्द्रिय के आकुञ्चन से बिन्दु को ऊर्ध्वाकर्षित करने का अभ्यास किया जाय तो इससे वज्रोली मुद्रा की सिद्धि होती है—

मेहनेन शनैः समयगूर्ध्वाकुञ्चनमभ्यसेत्।
पुरुषोऽप्यथवा नारी वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात्।।

सम्भोगानन्तर बिन्दु को क्षरित होने से रोकने के लिए उस बिन्दु को धीरे-धीरे आकुञ्चित करके उसे ऊपर ले जाने का स्त्री या पुरुष धीरे-धीरे अभ्यास करे तो वज्रोली मुद्रा की सिद्धि हो जाती है। शीशे की बनी हुई नली से उपस्थ के छिद्र में वायु के सञ्चार हेतु फूत्कार करना चाहिये—

यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकन्दरे।
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसञ्चारकारणात्।।

दुग्ध, नारी, शीशे की नली एवं वायुयोग— ये चारो वस्तुयें वज्रोली मुद्रा के लिए आवश्यक हैं।

शीशे की नली (शस्तनाल)— लिंगेन्द्रिय के छिद्र में प्रवेश करने योग्य चौदह अंगुल लम्बी शीशे की नली बनवानी चाहिए। उसे धीरे-धीरे दो-दो अंगुल, तीन-तीन अंगुल के क्रम से लिंगछिद्र में प्रवेश कराने का इस प्रकार अभ्यास करना चाहिए कि बारह अंगुल प्रविष्ट हो जाय और मात्र दो अंगुल बाहर रह जाय। टेढ़े एवं ऊर्ध्वमुख भाग को बाहर रखना चाहिए। फिर सुनार की धौंकनी के नल के समान नली को लेकर उसके अगले भाग को उपस्थ में प्रविष्ट करे और उसमें फूँके तो उपस्थ मार्ग का शोधन होता है। इसके बाद अन्य क्रियायें करे।

जलाकर्षणाभ्यास— इसके अनन्तर योगी को चाहिए कि वह अपने जननेन्द्रिय से जल को ऊपर खींचे।

वीर्याकर्षणाभ्यास— इसके अनन्तर वह अपने जननेन्द्रिय से वीर्य का आकर्षण करे। तत्पश्चात् जननेन्द्रिय में अधःपतित वीर्य का आकर्षण करना चाहिए—

नारीभगे पतद्बिन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत्।
चलितं च निजं बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत्।।

एवं संरक्षयेद् बिन्दुं मृत्युं जयति योगवित्।
मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्।।

बिन्दु (वीर्य) को शरीर में धारण करते रहने से योगी के शरीर में दिव्य गन्ध की उत्पत्ति हो जाती है। शरीर कान्तिमय हो जाता है। जब तक शरीर में वीर्यबिन्दु स्थिर है, तब तक काल का भय नहीं रहता— शरीर जीर्ण-शीर्ण होकर नष्ट नहीं होता।

मनुष्यों का चित्त शुक्राश्रित है। जीवन शुक्राधीन है; अत: वीर्य एवं मन दोनों की रक्षा की जानी चाहिये।[१] ऋतुमती नारी के रज एवं अपने बिन्दु की रक्षा की जानी चाहिये। योगाभ्यास में निपुण योगी को चाहिये कि वह लिंगेन्द्रिय के छिद्र से (वज्रोली की विधि से) रज एवं बिन्दु दोनों का ऊर्ध्वाकर्षण करे।[२]

वज्रोली के भेद— वज्रोली मुद्रा की दो सहायक क्रियायें और हैं और उन्हें तान्त्रिक योगियों ने सहजोली एवं अमरोली कहा है। ये दोनों ही वज्रोली मुद्रा के विशेष भेद हैं—

सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकत:।

सहजोली में तो सम्भोगानन्तर गोबर के कण्डे की भस्म को जल में भिगोकर स्त्री-पुरुष दोनों को अपने सिर, ललाट, नेत्र, हृदय, स्कन्ध एवं बाहुओं में लगाने (लेप करने) का विधान है; किन्तु अमरोली का विधान दूसरा है। इसमें पित्तप्रधान प्रारम्भिक बिन्दुधारा और सारशून्य अन्तिम बिन्दुधारा का त्याग करके शीतल मध्यधारा (चन्द्रामृत) का ही (इस मुद्रा में) सेवन करने का विधान है। यही खण्डकापालिकों की दृष्टि है—

निषेव्यते शीतलमध्यधारा कापालिके खण्डमतेऽमरोली।

अमरोली की क्रिया में साधक नासिका के द्वारा अमरी (शिवाम्बु) का नित्य पान करते

---

१. सुगन्धो योगिनो देहे जायते बिन्दुधारणात्।
यावद् बिन्दु: स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुत:।।
चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम्।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नत:।।

२. ऋतुमत्या रजोऽप्येयं निजं बिन्दुं च रक्षयेत्।
मेढ्रेणाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यासयोगवित्।।

पिण्ड के दिव्यीकरण के मुख्य साधन—

(क) विपरीतकरणी मुद्रा के द्वारा चन्द्र से स्रवित एवं अग्नि या (सूर्य) में पतित होने वाले अमृत का साधक द्वारा स्वयं पान करना=चन्द्रकलामृतपान।

(ख) वज्रोली मुद्रा द्वारा वीर्य को स्खलित होने से रक्षित करते हुए उसे रज के साथ एकीकृत करके उसकी ऊर्ध्वस्थापना।

(ग) नाद श्रवण

(घ) ब्रह्मचर्य

हुए वज्रोली मुद्रा द्वारा वीर्याकर्षण का अभ्यास करता है। उसका यही अभ्यास अमरोली कहा जाता है।

अमरोली के अभ्यास से निकली हुई सुधा (चन्द्रामृत) को भस्म (विभूति) में मिश्रित करके उसको उत्तम अंगों (सिर, कपाल, नेत्र, कन्धों, कण्ठ एवं हृदय आदि में) लेप करना चाहिये। इससे साधक में दिव्य दृष्टि का उन्मेष हो जाता है।

योगिनी और योगी— यदि कोई नारी वज्रोली मुद्रा के द्वारा पुरुष के वीर्य का आकुञ्चन करके (आकर्षण करके) रज की रक्षा करती है तो वह योगिनी है। इस प्रकार के अभ्यास से नारी का रज तनिक भी नष्ट नहीं होता। उसके शरीर में मूलाधारोत्थित नाद हृदय के ऊर्ध्व भाग में पहुँचकर बिन्दु हो जाता है। इसी प्रकार जो साधक योनिगत बिन्दु की भी रक्षा कर लेता है, वही योगी है—

पुंसो बिन्दुं समाकुञ्च्य सम्यगभ्यासपाटवात्।
यदि नारी रजो रक्षेद् वज्रोल्या साऽपि योगिनी।।

तस्याः किञ्चिद् रजोनाशं न गच्छति न संशयः।
तस्याः शरीरे नादश्च बिन्दुतामेव गच्छति।।

बिन्दु एवं रज का एकीकरण— प्राण एवं अपान, 'ह' एवं 'ठ', सूर्य एवं चन्द्रमा, शुक्र एवं रज— इनकी एकता (सामरस्य) को ही 'योग' कहा जाता है। वज्रोली मुद्रा के अभ्यास से बिन्दु एवं रज एक होकर अपने ही शरीर में एक हो जायँ तो समस्त सिद्धियाँ प्रदान करने लगते हैं। जो नारी योनि के संकोच द्वारा रज को ऊर्ध्व करके उसकी रक्षा करती है, वह भूत-भविष्य की ज्ञाता बन जाती है— उसकी खेचरी सिद्ध हो जाती है, तब वह योगिनी कहलाती है—

रक्षेदाकुञ्चनादूर्ध्वं या रजः सा हि योगिनी।
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद् ध्रुवम्।।

२०. शाक्तिचालनी मुद्रा और उसका स्वरूप

समस्त मुद्राओं का प्रधान लक्ष्य एक है और वह है— शक्ति का जागरण अर्थात् सोती हुई शक्ति को जगाना—

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्।
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत्।।[१]

इसी परिप्रेक्ष्य में आगे दश मुद्राओं का वर्णन किया गया है; जो कि महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, उड्यान, मूलबन्ध, जालन्धर, विपरीतकरणी, वज्रोली एवं शक्तिचालन हैं।

शक्तिचालन मुद्रा का सम्बन्ध भगवती कुण्डलिनी के जागरण से है। तान्त्रिक योग

१. हठयोग प्रदीपिका।

का मूलाधार भी कुण्डलिनी ही है—

सशैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः।
सर्वेषां योगतन्त्राणां तथाधारो हि कुण्डली।।

यह गुरुप्रसाद से ही जागृत होती है; किन्तु जब जागृत होती है तब समस्त शरीरस्थ पद्म एवं ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं—

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च।।

वह कौन-सी शक्ति है, जिसे जगाया जाता है? यह शक्ति आत्मशक्ति है, पर देवता है, कुण्डली है; जो कि साढ़े तीन वलयों में वलयित होकर सर्पिणी की भाँति सो रही है—

मूलाधारे आत्मशक्तिः कुण्डली परदेवता।
शयिता भुजगाकारा सार्धं त्रिवलयान्विता।।

यावत् सा निद्रिता देहे तावज्जीवो पशुर्यथा।
ज्ञानं न जायते तावत् कोटियोगं समभ्यसेत्।।[१]

कुण्डलिनी— कुलकुण्डलिनी मूलाधार चक्र में अनादि काल से सो रही है। तान्त्रिकों के रूपक के अनुसार अकुल (शिव) शिवलोक में बहुत ऊपर स्थित है और उसकी वियुक्ता पत्नी अनन्त कालों से उससे बिछुड़कर पाताल लोक में सुप्तावस्था में वियोगिनी प्रोषितपतिका नायिका की भाँति पड़ी है। इसके अनेक नाम हैं जिनमें से मुख्य हैं—

१. कुटिलांगी ४. शक्ति ६. कुण्डली
२. कुण्डलिनी ५. ईश्वरी ७. अरुन्धती
३. भुजंगी

कुटिलाङ्गी कुण्डलिनी भुजङ्गी शक्तिरीश्वरी।
कुण्डल्यरुन्धती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः।।

कुण्डली के जागरण की विधियों का तान्त्रिक योग के ग्रन्थों एवं पुराणों में भूरिशः उल्लेख मिलता है। उपनिषदों में भी इस विषय पर सविस्तार प्रकाश डाला गया है।

कुण्डलिनी-जागरण की विधि— अनादिकाल-सुषुप्ता भुजंगिनी कुण्डलिनी का उत्थापन ही शक्ति का जागरण एवं शक्ति का उत्थापन है। जब तक यह शक्ति नहीं जागती; योग के किसी भी अंग— आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधि एवं मुद्रा-बन्ध-षट्कर्म आदि की पूरी सिद्धि सम्भव नहीं हो पाती।

हठयोगप्रदीपिका की शक्त्युत्थापन-विधि— स्वात्माराम मुनीन्द्र कहते हैं कि जिस प्रकार कुञ्जी के द्वारा हठपूर्वक किवाड़ खोला जाता है, उसी प्रकार योगियों के द्वारा

१. घेरण्ड संहिता।

कुण्डलिनीरूपी चाभी के द्वारा मोक्ष के बन्द द्वार को खोला जाता है—

उद्घाटयेत् कपाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात्।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत्।।[१]

जिस मार्ग से निरामय बाह्य स्थान (ब्रह्मरन्ध्र) में प्रवेश किया जाता है, उसी सुषुम्ना द्वार को अवरुद्ध करके परमेश्वरी कुण्डलिनी सोती है। कन्द के ऊर्ध्व भाग में कुण्डलिनी सोयी रहती है। यह योगियों को मोक्ष प्रदान करती है और अज्ञानियों के लिये बन्धनकारिणी है। जो उसे जानता है, वही योग का ज्ञाता है—

येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम्।
मुखेनाच्छाद्य तद् द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी।।

कन्दोर्ध्वं कुण्डली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम्।
बन्धनाय च मन्दानां यस्तां वेत्ति स योगवित्।।

नाभि के नीचे और लिंगेन्द्रिय के ऊपर कन्द स्थित है। इसी कन्द के ऊपर सुषुम्ना द्वार को अवरुद्ध करके कुण्डलिनी सोती है। योगी इस कुण्डलिनी शक्ति का चालन (प्रबोधन) करके मुक्त हो जाते हैं और ब्रह्मरन्ध्र में स्थित शिव का साक्षात्कार कर लेते हैं।

कुण्डली शक्ति का आकार सर्प के समान है। यह शक्ति जिसके द्वारा चालित या प्रबुद्ध की जाती है, वह योगी अज्ञान के बन्धन से निवृत्त है रहता। गंगा (इड़ा) एवं यमुना (पिंगला नाड़ी) के मध्य बालरण्डा तपस्विनी के समान कुण्डलिनी स्थित है। उसे ग्रहण करना परम पद की प्राप्ति है। इडा गंगा के समान है और पिंगला यमुना के समान है—

गङ्गायमुनयोर्मध्ये बालरण्डां तपस्विनीम्।
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम्।।

इडा भगवती गङ्गा पिङ्गला यमुना नदी।
इडापिङ्गलयोर्मध्ये बालरण्डा च कुण्डली।।

इड़ा नाड़ी भगवती गंगा है। पिंगला नाड़ी यमुना नदी है। इन दोनों के मध्य में बालरण्डा (निराहारा) तपस्विनी कुण्डलिनी स्थित है। उसे हठयोग के द्वारा प्रबुद्ध करके ग्रहण करना परम पद परमेश्वर की प्राप्ति है। कुण्डलिनी जब तक इन दोनों इड़ा-पिंगला नाड़ियों के मध्य सोती रहती है और सुषुम्ना में प्रबुद्ध होकर प्रवेश नहीं करती है; तब तक निष्कल रहती है। परदेवता आत्म शक्ति कुण्डलिनी भुजंगाकारा है और सोयी हुई है। वह जब तक सोती रहती है, प्राणी पशु के समान अज्ञानी रहता है। चाहे करोड़ों प्रकार की योग-साधना की जाय, ज्ञान तब तक प्राप्त नहीं होता, जब तक कि कुण्डलिनी जग न जाय। 'बालरण्डा तपस्विनी' इसलिए कहा गया है; क्योंकि कुण्डलिनी शिव से विरक्त होकर

---

१. हठयोगप्रदीपिका।

गंगा (इड़ा) एवं पिंगला (यमुना) की मध्य स्थली में तपस्या करती है और ब्रह्मनाड़ी सुषुम्ना में प्रवेश कर जाग्रत होकर ब्रह्मरन्ध्र में शिव का सायुज्य प्राप्त करती है—

पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुप्तामुद्बोधयेच्च ताम्।
निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात्।।

सोती हुई भुजंगी कुण्डलिनी को पूँछ पकड़कर जगाना चाहिए। वह निद्रा का त्यांग कर हठपूर्वक उठकर स्थित हो जाती है, जाग जाती है। पूँछ पकड़कर सर्पाकृति कुण्डलिनी को जगाने का अभिप्राय है— प्राणनिरोध का अभ्यास। इससे वायु के द्वारा ताड़ित होकर कुण्डलिनी जग जाती है। गोरक्षनाथ 'गोरक्षशतक' में शक्तिचालिनी मुद्रा के विषय में कहते हैं—

कृत्वा सम्पुटितौ करौ दृढ़तरं बद्ध्वा तु पद्मासनम्
गाढ़ं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यात्वा च तत्प्रेक्षितम्।
वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्चारयेत् पूरितम्।
मुञ्चन्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रबोधान्नरः।।

दोनों हाथों को एक-दूसरे से सटाकर पद्मासन में अच्छी तरह स्थित होकर वक्षःस्थल पर चिबुक को लगाकर कुण्डलिनी का ध्यान करते हुए बार-बार प्राणायाम द्वारा वायु को खींच कर उसे अपान वायु से मिलाकर कुम्भक द्वारा वायु को रोककर श्वास बाहर निकालने से शक्ति के प्रबोधन द्वारा अतुल बोध प्राप्त करता है।

शक्तिचालिनी मुद्रा के अभ्यासकाल में साधक सिद्धासन या पद्मासन में बैठकर दोनों हथेलियों को पृथ्वी पर जमा दे। बीस-पच्चीस बार धीरे-धीरे दोनों नितम्बों को पृथ्वी से उठा-उठाकर ताड़न करे। इसके अनन्तर मूलबन्ध लगाकर दोनों नासिकाओं से पूरक करके प्राणवायु को अपान वायु से मिलाकर जालन्धर बन्ध लगाकर कुम्भक करे। कुम्भक के समय अश्विनी मुद्रा करे, गुह्य प्रदेश का संकोचन एवं प्रसारण करे। इसके बाद जालन्धर बन्ध खोलकर रेचक से वायु बाहर निकाल कर एकाग्र चित्त बैठ जाय। इससे कुण्डलिनी जग जाती है—

अवस्थिता चैव फणावती सा प्रातश्च सायं प्रहरार्धमात्रम्।
प्रपूर्य सूर्यात्परिधानयुक्त्या प्रगृह्य नित्यं परिचालनीया।।

मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी को दक्षिण नासा से वायु खींचते हुए पूरक की विधि से सूर्यास्त और सूर्योदय के समय सायं एवं प्रातःकाल में डेढ़-डेढ़ घण्टे (९० मिनट) तक परिधानयुक्ति से परिचालित (प्रबोधित) करना चाहिए।

(परिचालन करना अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति को अच्छी तरह चालित करते हुए सुषुम्ना में समुत्थित करना)।

कुण्डलिनी का परिचालन एकाग्र चित्त होकर नाभिदेश को वस्त्र से आच्छादित करके

गोपनीयता के साथ करना चाहिए। घेरण्डसंहिता में कहा गया है—

नाभिं सम्वेष्ट्य वस्त्रेण न च नग्नो बहिः स्थितः।
गोपनीयगृहे स्थित्वा शक्तिचालनमभ्यसेत्।।

नाभि को वस्त्र से लपेट कर एकान्त स्थान में शक्तिचालन मुद्रा का अभ्यास करना चाहिये। नग्नावस्था में बाहर इसका साधन नहीं करना चाहिए। नाभिस्थानीय पेट को दायें-बायें, बायें-दायें परिचालित करना चाहिए।

कन्द का सम्पीडन ही शक्तिचालन है। कन्द के स्थान और स्वरूप का वर्णन किया गया है। मूल स्थान से एक वित्ता के ऊपर मेढ्र एवं नाभि के मध्य में कन्द का स्थान है। यह चौड़ाई में चार अंगुल (तीन इञ्च) है। यह मसृण एवं श्वेत है तथा वेष्टित किये हुये वस्त्र के समान है। साधक को वज्रासन में स्थित होकर दोनों पैरों की एड़ियों के पास हाथों से दृढ़तापूर्वक पकड़कर उस कन्द का प्रपीड़न करना चाहिए अर्थात् दबाना चाहिए। इस प्रकार वज्रासन में स्थित होकर शक्तिचालन करते हुए योगी को 'भस्त्रा कुम्भक' प्राणायाम करके कुण्डलिनी को जगाना चाहिये—

ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरङ्गुलम्।
मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टिताम्बरलक्षणम्।।

सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद् दृढ़म्।
गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत्।।

वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुण्डलीम्।
कुर्यादनन्तरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु बोधयेत्।।

कन्दयोनि की स्थिति के सम्बन्ध में गोरखनाथ जी कहते हैं—

ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कन्दयोनिः खगाण्डवत्।
तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः।।

मेढ्र से ऊपर और नाभि के नीचे पक्षी के अण्डे की भाँति कन्दयोनि है। यह बहत्तर हजार नाड़ियों का उत्पत्ति-स्थान है।

याज्ञवल्क्य का कथन है कि गुदा से दो अंगुल ऊपर और मेढ्र (लिंगेन्द्रिय) से दो अंगुल नीचे देह का मध्य भाग है। उसके मध्य में मनुष्यों का कन्दस्थान नौ अंगुल लम्बा और चार अंगुल चौड़ा है। यह अण्डाकार है—

गुदात्तु द्व्यङ्गुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु द्व्यङ्गुलादधः।
देहमध्यं तयोर्मध्यं मनुजानामितीरितम्।।

कन्दस्थानं मनुष्याणां देहमध्यान्नवाङ्गुलम्।
चतुरङ्गुलिविस्तारमायामं च तथाविधम्।
अण्डाकृतिवदाकारभूषितं च त्वगादिभिः।।

नाभि का आकुञ्चन करते हुए नाभिदेशस्थ भास्कर का आकुञ्चन करना चाहिए। इस प्रकार कुण्डली शक्ति का चालन करना चाहिए। इससे योगी को मृत्यु का भय नहीं रह जाता; भले ही वह मृत्यु के मुख में ही क्यों न पड़ा हो। दो मुहूर्त (९६ मिनट तक) शक्ति का इस तरह चालन करने से कुण्डलिनी सुषुम्ना में प्रविष्ट होकर कुछ ऊपर की ओर खिंच जाती है। ऐसा करने से कुण्डलिनी सुषुम्ना के मुख का त्याग करके भीतर प्रवेश करती है। इसके फलस्वरूप प्राणवायु अपने-आप सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाती है।[१]

जिस शक्तिचालन मुद्रा से प्राण सुषुम्ना में चला जाता है, उस अरुन्धती (कुण्डलिनी) का, जो कि सुख से सोती है, नित्य चालन करना चाहिए। इससे योगी रोगों (कास-श्वास-ज्वर आदि) से मुक्त हो जाता है। जो योगी कुण्डली को सञ्चालित कर लेता है, अणिमादि सिद्धियों को प्राप्त कर लेता है, वह खेल-खेल में ही अनायास मृत्यु को भी अपने वश में कर लेता है।[२]

जो साधक इन्द्रियों को वश में रखकर ब्रह्मचर्य का पालन करता है तथा सात्त्विक आहार का सेवन करता है, वह शक्तिचालन मुद्रा का अभ्यासी योगी एक मण्डल (४० दिवसों) में ही प्राणायाम की सिद्धि कर लेता है। कुण्डलिनी का चालन करके योगी को विशेष रूप से भस्त्राकुम्भक का नित्याभ्यास करना चाहिए। इससे उसे मृत्युभय आक्रान्त नहीं करता। उसकी अकाल मृत्यु नहीं होती। वह स्वेच्छा से देह छोड़ने में स्वतन्त्र होता है; क्योंकि मृत्यु उसके वश में रहती है।[३]

विना कुण्डलिनी का चालन किये शरीरस्थित बहत्तर हजार नाड़ियों के दृढ़ाभ्यास से आसन, प्राणायाम और मुद्राओं की साधना के द्वारा मध्यमा नाडी, सुषुम्णा सरल हो जाती

---

१. भानोराकुञ्चनं कुर्यात्कुण्डलीं चालयेत्ततः।
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः।।
मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयं चालनादसौ।
ऊर्ध्वमाकृष्यते किञ्चित् सुषुम्नायां समुद्गता।।
तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्नाया मुखं ध्रुवम्।
जहाति तस्मात् प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः।। (हठयोगप्रदीपिका)

२. तस्मात्सञ्चालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुन्धतीम्।
तस्याः सञ्चालनेनैन योगी रोगैः प्रमुच्यते।।
येन सञ्चालिता शक्तिः स योगो सिद्धिभाजनम्।
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया।। (हठयोगप्रदीपिका)

३. ब्रह्मयर्चरतस्यैव नित्यं हितमिताशिनः।
मण्डलाद् दृश्यते सिद्धिः कुण्डल्यभ्यासयोगिनः।।
कुण्डलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद् विशेषतः।
एनमभ्यसतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः।। (हठयोगप्रदीपिका)

है— कुण्डलिनी के प्रवेश के लिए सुगम मार्ग के रूप में प्रशस्त हो जाती है। अभ्यास के समय मन को समाधि में लीन करने पर निद्रारहित अवस्था में साधक को रुद्राणी, शाम्भवी मुद्रा या उन्मनी अवस्था कल्याणकारिणी सिद्धियाँ प्रदान करती है।[१]

अभ्यास के समय मन को समाधि में लीन करने पर निद्रारहित अवस्था में साधक विभिन्न स्थितियाँ प्राप्त करता है।

मुद्रा हठयोग का प्रधान अंग है। आसन, मुद्रा और कुम्भक— ये हठसाधना के प्रधान अंग माने जाते हैं।

शिवसंहिता की शक्त्युत्थापन-विधि— शिवसंहिता में कहा गया है कि मूलाधार चक्र में प्रसुप्त कुण्डली शक्ति को बुद्धिमान साधक अपान वायु पर आरूढ़ होकर उसे बलपूर्वक चालित करे। यह सर्वशक्तिप्रदा शक्तिचालनमुद्रा है। जो साधक प्रतिदिन शक्ति-चालन मुद्रा का अच्छी तरह विधि-विधान के साथ अभ्यास करता है, उसकी आयु में वृद्धि हो जाती है तथा उसके शरीरादि रोगों का ध्वंस हो जाता है। शक्तिचालन मुद्रा के अभ्यास से निद्रा का परित्याग करके कुण्डलिनी शक्ति स्वयं ऊपर उठ जाती है, जागृत हो उठती है; अत: सिद्धि के आकांक्षी साधक को शक्तिचालन मुद्रा का अभ्यास अवश्य करना चाहिए। जो साधक गुरु के मार्गदर्शन में इस मुद्रा का अभ्यास करता है, उसे अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं तथा वह मृत्यु से अतीत हो जाता है।[२]

जो साधक केवल दो मुहूर्त (दो क्षण) तक भी इस शक्तिचालन मुद्रा का अभ्यास करता है, उसके लिए योगसिद्धि सहज सुलभ है। योगियों को चाहिये कि वे योगासन में स्थित होकर इस मुद्रा का अभ्यास करें।

इस दस मुद्राओं के समान योगाभ्यास न तो कभी भूतकाल में था और न ही भविष्य में इनके समान कोई अभ्यास होगा। एक-एक का अभ्यास ही पूर्ण विधि से करने पर परम सिद्धिदायक है। योगसाधना में सिद्धि का मुख्यतम उपाय मुद्राभ्यास है; अन्य साधनाओं की कोई आवश्यकता नहीं है।[३]

---

१. इयं तु मध्यमा नाड़ी दृढ़ाभ्यासेन योगिनाम्।
आसनप्राणसंयाममुद्राभि: सरला भवेत्।। (हठयोगप्रदीपिका)

२. आधारकमले सुप्तां चालयेत् कुण्डलीं दृढ़ाम्।
अपानवायुमारुह्य बलादाकृष्य बुद्धिमान्।
शक्तिचालनमुद्रेयं सर्वशक्तिप्रदायिनी।।
शक्तिचालनमेवं हि प्रत्यहं य: समाचरेत्।
आयुर्वृद्धिर्भवेत्तस्य रोगाणां च विनाशनम्।। (शिवसंहिता)

३. विहाय निद्रां भुजगी स्वयमूर्ध्वं भवेत्खलु। तस्मादभ्यासनं कार्यं योगिना सिद्धिमिच्छता।।
य: करोति सदाभ्यासं शक्तिचालनमुत्तमम्। येन विग्रहसंसिद्धि: स्यादणिमादिगुणप्रदा।।

घेरण्डसंहिता की शक्त्युत्थापन-विधि— घेरण्ड ऋषि कहते हैं कि एक बालिस्त चौड़ा और चार अंगुल लम्बा श्वेत मुलायम वस्त्र नाभि पर रखकर उसे कटिसूत्र से बाँध लेना चाहिए। शरीर में भस्म का लेप करके सिद्धासन लगाकर प्राणवायु को खींचकर अपान वायु से मिलाना चाहिए। जब तक सुषुम्ना द्वार से वायु प्रवेश न कर जाय, तब तक अश्विनी मुद्रा से गुह्य का आकुञ्चन करते रहना चाहिए। इस प्रकार श्वास रुकने से कुम्भक के प्रभाव से सर्पाकार कुण्डलिनी जाग कर ऊर्ध्व मार्ग में खड़ी हो जाती है। शक्तिचालिनी मुद्रा के विना योनिमुद्रा सिद्ध नहीं होती।

घेरण्ड ऋषि यह भी कहते हैं कि यह मुद्रा सर्वाधिक गोपनीय है। प्रतिदिन प्रयत्न एवं गोपनीयता के साथ इसका अभ्यास करते जाना चाहिए। यह मुद्रा जरा एवं मृत्यु— दोनों का ध्वंस करने वाली है। इसके नित्याभ्यास से रोगों का क्षय होता है और सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं—

नित्यं योऽभ्यसते योगी सिद्धिस्तस्य करे स्थिता।
तस्य विग्रहसिद्धिः स्याद् रोगाणां संक्षयो भवेत्।।[१]

घेरण्डसंहिता में शक्तिचालिनी मुद्रा के सन्दर्भ में कहा गया है कि कुण्डलिनी मूलाधार में सार्धत्रिवलय होकर सर्पिणी के रूप में सोयी हुई है। उसके सुप्तावस्था में योगी अज्ञावस्था में रहता है। जैसे चाभी से ताला खुलता है, उसी प्रकार कुण्डलिनी के जागरण से ब्रह्मरन्ध्र का बन्द द्वारा खुलता है। नाभि को वस्त्र से लपेट कर एकान्त स्थान में शक्ति-चालनी मुद्रा का अभ्यास करना चाहिये—

मूलाधारे आत्मशक्तिः कुण्डली परदेवता।
शयिता भुजगाकारा सार्धं त्रिवलयान्विताः।।आदि।।

इस साधना में बालिस्त भर चौड़ा एवं चार अंगुल लम्बा श्वेत एवं कोमल वस्त्र नाभि पर रखकर कटिसूत्र में बाँधा जाता है और शरीर में भस्म का लेपन करके, सिद्धासन से बैठकर, प्राण को खींचकर उसे अपान से मिलाने की क्रिया करनी पड़ती है।[२]

गुरूपदेशविधिना तस्य मृत्युभयं कुतः। मुहूर्तद्वयपर्यन्तं विधिना शक्तिचालनम्।।
यः करोति प्रयत्नेन तस्य सिद्धिरदूरतः। युक्तासनेन कर्तव्यं योगिभिः शक्तिचालनम्।।
एतत्तु मुंद्रादशकं न भूतं न भविष्यति। एकैकाभ्यासनं सिद्धिः सिद्धो भवति नान्यथा।।
(शिवसंहिता)

१. घेरण्डसंहिता (३.५९-६०)

२. वितस्तिप्रमितं दीर्घं विस्तारे चतुरङ्गुलम्।
मृदुलं धवलं सूक्ष्मं वेष्टनालम्बरलक्षणम्।।
एवमम्बरयुक्तं च कटिसूत्रेण योजयेत्।
भस्मना गात्रसंलिप्तं सिद्धासनं समाचरेत्।।

मुद्रायें कालवञ्चनात्मिका भी हैं—

तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः।
अणिमादिगुणैः सार्धं लभते कालवञ्चनम्।।

मुद्रा और राजयोग

मुद्राओं की सिद्धि कब होती है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए स्वात्माराम मुनीन्द्र कहते हैं कि मुद्रायें केवल शारीर व्यापार या शारीर अभ्यासमात्र नहीं है; प्रत्युत ये मनःसाधनात्मक हैं; अतः इनकी सिद्धि में राजयोग की प्रधान भूमिका है; इसीलिए हठयोगप्रदीपिका में कहा गया है—

नासाभ्यां प्राणमाकृष्य अपाने योजयेद् बलात्।
तावदाकुञ्चयेद् गुह्यं शनैरश्विनमुद्रया।।
यावद् गच्छेत् सुषुम्नायां वायुः प्राकाशयेद् हठात्।
तदा वायुप्रबन्धेन कुम्भिका च भुजङ्गिनी।।
बद्धश्वासस्ततो भूत्वा ऊर्ध्वमार्गं प्रपद्यते।
शक्तेर्विना चालनेन योनिमुद्रा न सिध्यति।। (३/५३-५७)
गोपनीयं प्रयत्नेन दिने दिने समभ्यसेत्।
मुद्रेयं परमा गोप्या जरामरणनाशिनी।।
तस्मादभ्यासनं कार्यं योगिभिः सिद्धिकांक्षिभिः।।

शक्तिचालिनी के बाद ही योनिमुद्रा का अभ्यास करना चाहिये। हे चण्डकपाले! इस प्रकार शक्तिचालनी मुद्रा का प्रतिदिन अभ्यास करना चाहिए। जो योगी इसका अभ्यास करता है, उसे सिद्धियाँ एवं विग्रहसिद्धि प्राप्त तो होती ही हैं; साथ ही उसके रोग भी नष्ट हो जाते हैं। इसी सन्दर्भ में घेरण्ड ऋषि कहते हैं—

आदौ चालनमभ्यस्य योनिमुद्रां समभ्यसेत्।
इति ते कथितं चण्डकापाले शक्तिचालनम्।।
गोपनीयं प्रयत्नेन दिन दिने समभ्यसेत्।
मुद्रेयं परमा गोप्या जरामरणनाशिनी।।
तस्मादभ्यासनं कार्यं योगिभिः सिद्धिकांक्षिभिः।
नित्यं योऽभ्यसते योगी सिद्धिस्तस्य करे स्थिता।
तस्य विग्रहसिद्धिः स्यात् रोगाणां संक्षयो भवेत्।।

कुण्डलिनी शक्ति आधारकमल में सो रही है, उसे जगाकर बलपूर्वक अपान वायु का आकर्षण करना चाहिए। यही शक्तिचालनी मुद्रा है। यह सर्वशक्तिप्रदा क्रिया है—

आधारे कमले सुप्तां चालयेत् कुण्डलीं दृढ़ाम्।
अपानवायुमारूह्य बलादाकृष्य बुद्धिमान्।
शक्तिचालनमुद्रेयं सर्वशक्तिप्रदायिनी।।

हठयोगप्रदीपिका में कहा गया है कि ७२००० नाड़ियों के शोधन में (उनमें स्थित अशुद्धि को दूर करने में) शक्तिचालनमुद्रा (कुण्डलिनी के अभ्यास) से बढ़कर कोई प्रक्षालनोपाय नहीं है—

द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधने। कुतः प्रक्षालनोपायः कुण्डल्यभ्यसनादृते।।

राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा।
राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न शोभते।।

साधक को प्राणायाम की सभी विधियों को मनोयोगपूर्वक करना चाहिए और उस मनीषी को मन की प्रवृत्ति किसी विषयान्तर में निरत नहीं करनी चाहिये—

इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा।

सर्वेश्वर भगवान् आदिनाथ शम्भु ने इन्हीं अभ्यासों को दश महामुद्रा कहा है। ये महा-सिद्धिप्रदायिका हैं। इसकी प्रत्येक मुद्रा महासिद्धिप्रदा है—

इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शम्भुना।
एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी।।

जो इन मुद्राओं का उपदेष्टा योगी है, वही गुरु, स्वामी एवं ईश्वर है—

उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते साम्प्रदायिकम्।
स एव श्रीगुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः।।

राजयोग है क्या? स्वात्माराम मुनीन्द्र कहते हैं कि राजयोग वृत्यन्तरनिरोधपूर्वक आत्मगोचर एवं धारावाहिक रूप में प्रसृत (प्रवाहित) निर्विकल्प वृत्ति है। ज्योत्स्ना में यही व्याख्या की गई है— 'वृत्यन्तरनिरोधपूर्वकात्मगोचरधारावाहिकनिर्विकल्पकवृत्तिः राजयोगः।'

राजयोगं विना पृथ्वीः— राजयोग के विना पृथ्वी शोभित नहीं होती। पृथ्वी का क्या अर्थ है? ज्योत्स्नाकार का कथन है कि 'पृथ्वी' शब्द स्थैर्य गुण का प्रतिनिधि एवं सूचक है। आसन में स्थिरता आवश्यक है। पृथ्वी भूतत्त्व है। भूतत्त्व स्थिर है। जल, अग्नि एवं वायु तत्त्व अस्थिर हैं, अतः पृथ्वी को स्थिरता का सूचक मान लिया गया है। पृथ्वी का नाम ही है— (अचला) स्थिर। यद्यपि नक्षत्र-विज्ञान की दृष्टि से पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है; अतः स्थिर नहीं है, तथापि अपने पिण्ड के भीतर वह स्थिर है। वह बाहर अपनी सम्पूर्ण पिण्डात्मक रचना के रूप में सूर्य की परिक्रमा करते हुए ३६५ दिन ५ घण्टे ८८ मिनट एवं ४५.५१ सेकेण्ड लगाती है। अपनी धुरी पर भी वह स्थिर नहीं है; तथापि अपने मध्य में स्थिरवत् है; अन्यथा पृथ्वी तूफान जैसी होती। पृथ्वी के सम्बन्ध में प्रारम्भिक मत यह था कि पृथ्वी ब्रह्माण्ड का एक ऐसा अचल केन्द्र है, जिसके चारो ओर सूर्य, नक्षत्र तथा अन्य खगोलपिण्ड चक्कर काटते हैं। इस सिद्धान्त के प्रथम प्रवर्त्तकों में निडोस के यूरोडाक्सियस (३६० ई० पूर्व पू०) एक थे । यूनानी दार्शनिक अरिस्टाकस (३१०-३२० ई० पू०) का मत यह नहीं था। उनके अनुसार 'स्थिर नक्षत्र एवं सूर्य स्थिर हैं। पृथ्वी एक वृत्त की परिधि के चारो ओर की परिक्रमा करती है और सूर्य इस परिक्रमा-कक्ष के केन्द्र में है।'

अलेक्जेण्ड्रिया के दार्शनिक कलाडियस टालमी का अभिमत है कि निडोस के दार्शनिक

यूरोडाक्सियस का मत वैज्ञानिक नहीं है। कापरनिकस (१४७३-१५४३) ने कहा कि सूर्य ही ब्रह्माण्ड का केन्द्र है और पृथ्वी अचला नहीं— स्थिर नहीं; अस्थिर है और वह सूर्य की परिक्रमा करती है—

१. पृथ्वी का अपनी धुरी पर परिक्रमा का काल २३ घण्टा, ५६ मिनट और ४.९ सेकेण्ड।

२. पृथ्वी की सूर्य के चतुर्दिक प्रदक्षिणा का काल ३६५ दिन, ५ घण्टे, ८८ मिनट और ४५.५१ सेकेण्ड।

जिस प्रकार थाली को पीटने पर उस पर रक्खे छोटे कण नाचने या हिलने लगते हैं, ठीक उसी प्रकार यदि पृथ्वी भी अस्थिर होती तो उस पर स्थित पहाड़, नदियाँ, नगर, मकान आदि कोई भी स्थिर नहीं रह पाते; अत: पृथ्वी आपेक्षिक दृष्टि से तो स्थिर ही है। इसी दृष्टि से ज्योत्स्ना में ब्रह्मानन्द गिरि कहते हैं—

पृथ्वीशब्देन स्थैर्यगुण: राजयोगादसनं लक्ष्यते।

पृथ्वी का अर्थ है— स्थैर्य। राजयोग का अर्थ है— आसन।

राजयोग के विना परमपुरुषार्थस्वरूप मोक्ष प्राप्त करना सम्भव नहीं है— 'राजयोगं विना परमपुरुषार्थफलासिद्धि: इति हेतुरग्रेऽपि योजनीय:।'

'राजयोगं विना निशा' क्यों कहा गया है? निशा के समान कुम्भक प्राणायाम राजयोग के विना शोभायमान नहीं होता; क्योंकि जिस प्रकार रात्रि में राजपुरुषों का सञ्चार नहीं होता, उसी प्रकार कुम्भक (प्राणायाम) में प्राणों का सञ्चार नहीं होता।

निशा का अर्थ है— कुम्भक प्राणायाम। निशाशब्देन प्राणसञ्चाराभाव:, कुम्भक प्राणायाम=निशा।

राजयोग का अर्थ है— राजयोग नामक ज्ञान एवं मन:प्रधान साधना। 'निशाशब्देन प्राणासञ्चाराभावलक्षण: कुम्भको लक्ष्यते। राजयोगं विना निशेव निशा कुम्भको न राजते । निशायां प्रायेण राजजनसञ्चाराभावात्।'

राजयोगं विना मुद्रा विचित्राऽपि न शोभते। अर्थात् राजयोग के विना मुद्रा भी सुशोभित नहीं होती।

२१. योगमुद्रा

पद्मासन से बैठकर हथेलियों को एड़ियों पर रखिये। धीरे-धीरे श्वास बाहर निकाल कर एवं आगे झुककर मस्तक को जमीन से लगाइये। यदि अधिक समय तक अभ्यास करना हो तो सामान्यावस्था में (प्रथमावस्था में आकर) श्वास लें। हाथों को एड़ियों पर न रखकर पीठ पर भी रख सकते हैं। बायीं कलाई को दाहिनी कलाई से पकड़ें। इससे पेट के सभी विकार दूर हो जाते हैं।

२२. भुजङ्गिनी मुद्रा

मुख को थोड़ा फैलाकर गले के द्वारा वायु-पान करना भुजंगिनी मुद्रा कहलाती है। फल = वार्धक्य + मृत्यु का निवारण।

२३. मातङ्गिनी मुद्रा

मुख से निकालने के बाद मुख से खींचकर दोनों नासारन्ध्रों से निकालने की क्रिया को मातंगिनी मुद्रा कहते हैं।

२४. काकी मुद्रा

मुख को कौवे की चोंच के समान बनाकर धीरे-धीरे वायु-पान करने को काकी मुद्रा कहते हैं। फल = रोग-राहित्य।

सन्त ज्ञानेश्वर की दृष्टि— ज्ञानेश्वर ने भावार्थदीपिका में मूल बन्ध का बहुत सरल ढंग से वर्णन किया है। वे कहते हैं कि जंघे को पिंडुली से मिला दो। पाँव के तलुए एक पर एक ड़्योढ़ा करके गुदास्थान के मूल में स्थिर रखकर जोर से दबाओ। दाहिना पाँव नीचे रक्खो एवं वृषण से गुदास्थान तक जो रेखा है, उसे उससे दबाओ। इस वृत्ति में बायाँ पाँव अपने-आप ही ऊपर रहेगा। गुदा और शिश्न के मध्य जो केवल चार अंगुल स्थान है, उसमें से दोनों ओर डेढ़-डेढ़ अंगुल छोड़कर बीच में जो एक अंगुल जगह रह जाती है, वहाँ एडी के उत्तर भाग से दबाओ और शरीर स्थिर करो। पीठ के नीचे का भाग इस प्रकार उठाओ कि उठाया प्रतीत न हो तथा दोनों घुटनों का भी सन्तुलन सम्भालो। इस स्थिति में सम्पूर्ण शरीर एड़ी के मस्तक पर रहेगा। हे अर्जुन! यही है— मूलबन्ध। इसे ही गौण वज्रासन भी कहते हैं। इस प्रकार जब मूलाधार का बन्ध सिद्ध हो जाता है और अपान वायु का अधोमार्ग बन्द हो जाता है तब वायु भीतर की ओर संकुचित होने लगती है।[१]

नाभि के नीचे स्वाधिष्ठान चक्र के ऊपर जो बन्ध बनता है, उसे उड्डीयान बन्ध कहते हैं। इसी प्रकार जब ठोढ़ी कण्ठ के नीचे के गड्ढे में जम जाती है, हृदय को जोर से दबाती है और कण्ठमणि अदृश्य हो जाती है तो इस बन्ध को जालन्धर बन्ध कहते हैं।[२]

मूलबन्ध के द्वारा अपान वायु को बन्द कर दिया जाता है। फिर पीछे वह पलटती है और संकुचित होते ही तत्काल फूलती है। सन्ताप से वह उन्मत्त हो जाती है और

१. पक्षान्तर में की गई व्याख्या—
(क) राज्ञो नृपस्य योगो राजयोगो (राजा के साथ संयोग या मिलन = राजयोग) राज-सम्बन्धस्तं विना पृथ्वी भूमिर्न राजते। शास्तारं विना भूमौ नानोपद्रवसम्भवात् ।

२. राजा चन्द्रः सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा (श्रुति)। तस्य योगं सम्बन्धं विना निशा रात्रिर्न राजते। राजा = चन्द्रमा। चन्द्रमा के विना निशा सुशोभित नहीं होती = राजयोगं विना निशा।

मनमानी जगहों में गर्जन करती है और ठहर-ठहर कर नाभिकमल मणिचक्र से लड़ने लगती है। वह सारे पेट को खोज डालती है और बाल्यावस्था का समस्त सड़ा कीचड़ बाहर फेंक देती है। वह शरीर के कोष्ठ-कोष्ठ को खोजती है और कफ एवं पित्त का स्थान नहीं रहने देती। वह धातु के समुद्रों को उलट देती है। वह मेदा के पर्वतों को फोड़ डालती है तथा भीतरी हड्डी से मिली हुई मज्जा को बाहर निकालती है और नाड़ियों का सम्बन्ध छुड़ा देती है।[१]

शक्त्युत्थापनसम्बन्धिनी ज्ञानेश्वर की दृष्टि— मूलबन्ध लगाने पर कुण्डलिनी निरुद्ध अपान वायु अवयवों को शिथिल कर डालती है। अपान वायु साधकों को भयभीत कर देती है। वह व्याधियाँ भी प्रकट करती है तथा साथ ही उसको नष्ट भी कर देती है। वह जलतत्त्व एवं पृथ्वी तत्त्व— दोनों को एक में सान डालती है।

दूसरी ओर लगे हुए आसन की ऊष्णता से कुण्डलिनी नामक शक्ति को जागृत कर देती है। जैसे कोई नागिन का सँपोला कुंकुम नहाया हुआ हो और अनेक वलयों में वलयित होकर सो रहा हो, उसी प्रकार की छोटी-सी कुण्डलिनी साढे तीन वलयों (सार्ध त्रिवलयों) में वलयित होकर और मुख को मध्य में किये हुये सर्पिणी के समान सोती रहती है। वह देखने में ऐसी प्रतीत होती है; मानों वह—

१. कुंकुम में नहाया हुआ संपोला हो।

२. विद्युतनिर्मित कंकण हो।

३. अग्नि-ज्वालाओं से परिवेष्टित एक विशिष्ट रचना हो।

४. घोंटे हुए सोने का पासा हो।

५. वह छोटे से स्थान में दबी हुई पड़ी रहती है; किन्तु वज्रासन के दबाव के कारण जाग जाती है। जगने पर वह ऐसी प्रतीत होती है; मानो—

(क) कोई नक्षत्र उलटा पड़ा हो।

(ख) सूर्य का आसन छूट गया हो।

(ग) चतुर्दिक प्रसृत तेज के बीज से अंकुर फूटे हों।

ऐसी कुण्डलिनी अपने वलयों (फेटों) को छोड़कर कौतुक के साथ अंगड़ाई लेती हुई नाभिस्थान पर दिखाई पड़ती है। चिरकाल से भूखी और हठपूर्वक जगाने से जागृत वह कुण्डलिनी भोजन के लिए ऊपर की ओर मुंह फाड़ती है और हृदयकमल के नीचे स्थित पवनसमूह को खा जाती है और माँसल स्थानों के कुछ भागों को अपना ग्रास (कवल)

राजयोगं विना नृपसम्बन्धं विना मुद्रा राजभिः पत्रेषु क्रियमाणश्चिह्नविशेषः। विचित्रापि पृथ्वीपक्षे रत्नादिजनकत्वेन विलक्षणापि। निशापक्षे ग्रहनक्षत्रादिभिर्विचित्रापि। मुद्रापक्षे रेखाभिर्विचित्राऽपि न राजते। (ब्रह्मानन्द गिरि-ज्योत्स्ना)

१. भावार्थदीपिका। (श्लोक ६.१२-१३)

बना ड़ालती है। फिर वह हृदय के भी एक-दो ग्रास चट कर जाती है। तत्पश्चात् वह तलुवों एवं हथेलियों का भी भेदन करती है और प्रत्येक अवयव की ग्रन्थियों में भी पहुँचती है। वह अधोभाग को भी नहीं छोड़ती। वह नख का भी सत्त्व निकाल लेती है और त्वचा के ढांचे को हड्डी के कंकाल से जोड़ देती है। वह हड्डियों की नलियों का भी रस निकालती है, नसों के जाले धो डालती है; जिससे कि रोममूलों की वृद्धि बन्द हो जाती है। फिर वह तृषाकुल कुण्डलिनी सप्तधातुओं के समूह को भी पीती है, जिससे कि शरीर का प्रत्येक भाग शुष्क हो जाता है। वह नासारन्ध्रों से निःसृत एवं १२ अंगुल पर्यन्त प्रसृत वायु को हटाकर भीतर घुस जाती है और तब नीचे की वायु ऊपर चढ़ती है एवं ऊपर की वायु नीचे उतरती है। जब इन दोनों वायुओं का मिलन होता है तब चक्रों के मात्र सूक्ष्म पुर्जे ही बच पाते हैं। कुण्डलिनी इन दोनों से कहती है कि जाओ, तुम्हारी यहाँ कोई उपयोगिता नहीं है।

कुण्डलिनी शरीर के पृथ्वी से सम्बद्ध धातु को पूर्णतया खा जाती है। वह इसमें से कुछ भी शेष नहीं रहने देती। फिर वह जलतत्त्व को भी पूर्णतया अपना आहार बना ड़ालती है। पृथ्वीतत्त्व एवं जलतत्त्व— दोनों का आहार कर चुकने के बाद वह तृप्त हो जाती है और इसी स्थिति में सुषुम्ना नामक नाड़ी के पास शान्त होकर स्थित हो जाती है।

वह आहारोपरान्त प्राप्त तृप्ति से (सन्तुष्टि द्वारा) मुख से जो गरल उगलती है, उसी अमृत से प्राणवायु जीवन धारण करती है। वह विष भीतर से बाहर की ओर अग्नि के रूप में निकालता है, किन्तु वह शैत्य फैलाता है; जिसके परिणामस्वरूप शिथिलीकृत, गलित, शुष्क एवं निष्प्राणीभूतवत् शरीरावयव दृढ़ होने लगते हैं।

कुण्डलिनी के जागरण की इस अवस्था में—

१. नाड़ियों के मार्ग बन्द हो जाते हैं।
२. नवों प्रकार के वायु की गति बन्द हो जाती है।
३. इड़ा-पिंगला नाड़ियाँ एक में मिल जाती हैं।
४. तीनों ग्रन्थियाँ छूट जाती हैं।
५. चक्रों की कलियाँ खिल उठती हैं।
६. चन्द्रमा और सूर्य नामक कल्पित वायु ढूँढ़ने पर भी कहीं दृष्टिगत नहीं होते।
७. बुद्धि का विकास बन्द हो जाता है।
८. घ्राणेन्द्रिय में स्थित सौरभ कुण्डलिनी के साथ नाड़ी में प्रविष्ट हो जाता है।
९. ऊर्ध्वस्थित समस्त चन्द्रामृत सरोवर कुण्डलिनी के मुख में गिर पड़ता है।
१०. इसके द्वारा नली में जो रस भर जाता है, वह समस्त शरीर में फैल जाता है और प्राणवायु के योग से यत्र-तत्र शुष्क हो जाता है।[१]

१. भावार्थदीपिका।

११. उस समय शरीर के रूप से मानों कान्ति ही अवतार ग्रहण करती है और ऊपर से त्वचारूपी आवरण डाल लेती है।

ऐसा प्रतीत होता है मानों, सूर्य मेघरूपी घूंघट काढ़े हुए है और मेघ के हट जाने पर वह अत्यन्त तेजस्वी दृष्टिगोचर हो रहा हो। ठीक इसी प्रकार जो शरीर त्वचारूपी सूखा पड़ा रहता है, वह भूसे की भाँति झड़ जाता है। उस समय शरीर के अवयवों की कान्ति ऐसी प्रतीत होती है जैसे वह स्फटिक से बनी हो या रत्नरूपी बीज में अंकुर प्रस्फुटित हो उठे हों, या सन्ध्याकाल के आकाश का रंग निकाल कर उन्हीं से ही कोई नया शरीर बना दिया गया हो, या आत्मज्योति का लिंग ही परिमार्जित करके रख दिया गया हो, या शरीर कुंकुम से नहाया हुआ हो, या आत्मरस ही शरीर के रूप में ढाल दिया गया हो, या शान्ति ने ही मूर्ति का रूप धारण कर लिया हो, या आनन्दस्वरूप चित्र ही लिपि के रूप में प्रकट हो गया हो (आनन्दरूपा चित्र की लिखावट हो), या महासुख की प्रतिमा हो या सन्तोषरूपी वृक्ष का पौधा रोपा गया हो, या महासुख का विग्रह हो, या सन्तुष्टिरूप वृक्ष का रोपा लगाया गया हो, या स्वर्णचम्पक की कलिका हो, या अमृत की मूर्ति हो, या मसृणता की बरेज में वसन्त आ गया हो, या शरदर्तु की आर्द्रता से चन्द्रबिम्ब पल्लवित हो उठा हो, या मूर्तिमान तेज ही आसनस्थ हो गया हो। कुण्डलिनी के अमृत का पान करते समय योगी का शरीर इसी प्रकार तेजस्वी, आकर्षक एवं सुन्दर बन जाता है। उस तेजोमय देह को देखकर यमराज भी भयभीत हो उठता है। यह शरीर वार्धक्य के बन्धन से अतीत हो जाता है। यौवन की ग्रन्थि का उद्‌भेदन हो जाता है। उसकी आयु यथार्थ आयु से कम दिखाई पड़ती है।

उसके शरीर में ऐसे नए नख निकलते हैं, जो (देखने पर) स्वर्ण के वृक्ष के पल्लवों में नित्य नव्य रत्नों की कलिकाओं के समान दृष्टिगत होते हैं। दाँत भी नए हो जाते हैं और छोटे-छोटे होते हैं। ये देखने में ऐसे लगते हैं, मानों हीरों की पंक्तियाँ बैठा दी गई हों। शरीर में जो रोमों के अंकुर होते हैं, वे ऐसे लगते हैं मानों माणिक्य के नोकदार कण हों। हथेलियाँ एवं तलवे रक्त कमल के समान दृष्टिगत होते हैं। नेत्र निर्मल हो जाते हैं। नेत्र ऐसे दिखते हैं मानों पक जाने पर सीपी का सीवन तोड़कर मोती बाहर निकल आये हों या सीपी की सियन खुल गई हो, जिससे मोती बाहर दिखने लगे हों । यही दृश्य दिखाई पड़ता है, ऐसे योगी के अर्धोन्मीलित नेत्रों का। दृष्टि पलकों में नहीं समाती और निकलकर व्यापक होना चाहती है। वह रहती तो अर्धोन्मीलित ही है; किन्तु आकाश तक व्याप्त रहती है।

ऐसे योगी का शरीर स्वर्ण का हो जाता है; किन्तु वह सोना के समान वजनी नहीं होता; प्रत्युत वायु का लघुत्व रखता है। उसमें पृथ्वी एवं जल के अंश नहीं रहा करते। उसे समुद्र का तट दिखाई पड़ता है और स्वर्ग का सुमधुर स्वर दृष्टिगोचर होता है। उसे

चींटी के मन का समाचार, अवस्था एवं मनोभाव ज्ञात हो जाता है। वह पवन के अश्व पर सवार हो सकता है। वह जल पर चले तो उसके तलुवे भीगते नहीं। उसे इसी प्रकार की अनेक सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

२५. कुण्डलिनी

प्राणों का हाथ पकड़कर हृदयाकाश की सीढ़ी बनाकर सुषुम्ना नाड़ी के जीने से पहुँची हुई जगदम्बा कुण्डलिनी चैतन्य-चक्रवर्ती है। उसने जगद्बीज ओंकार के अंकुररूप जीव पर छाया की है। वह निराकार ब्रह्म का साकार विग्रह है। वह परमात्मा शिव का सम्पुट है। वह ओंकार की प्रसवित्री जन्मभूमि है। वह कुण्डलिनी बाला जब हृदय में पहुँचती है तो अनाहत ध्वनि करने लगती है। उसके साथ बुद्धि की चेतना उपस्थित रहती है। इसी कारण बुद्धि को वह मधुर ध्वनि श्रुतिगोचर होती रहती है। वह ध्वनि ऐसी सुनाई पड़ती है, मानों घोषाकार कुण्ड में ध्वनि-चिह्न के आकार एवं ओंकार के रूप में लिखे गए हों। चूँकि वहाँ कल्पना करने वाला भी नहीं रहता; अत: यह ज्ञात नहीं होता कि कहाँ से किस वस्तु की ध्वनि श्रुतिगोचर हो रही है।

जब तक पवनतत्त्व का नाश नहीं होता तब तक आकाश में ध्वनि होती रहती है और आकाश गरजता रहता है। इस समय सहज रूप में ही ब्रह्मरन्ध्र की खिड़की खुल जाती है।[१]

कमलगर्भ के आकार के महदाकाश में, जो कि चैतन्यविग्रह है, कुण्डलिनी परमेश्वरी मानों तेजरूपी कलेवा अर्पित करती है। वह बुद्धिरूपी शोक का इस प्रकार नैवेद्य अर्पित करती है कि द्वैत का ध्वंस हो जाता है। इस स्थिति में कुण्डलिनी अपना तेज परित्यक्त करती है और केवल प्राणस्वरूप में अवशिष्ट रह जाती है। वह इस प्रकार दृष्टिगत होती है, मानों पवन की पुत्रिका (कठपुतली) ने अपनी ओढ़ी हुई सोने की साड़ी उतार कर रख दी हो। ऐसा प्रतीत होता है मानों किसी दीपक की दृष्टि वायु से लड़कर लुप्त हो गई हो या विद्युत् चमक कर आकाश में विलीन हो गई हो।

हृदयकमल में कुण्डलिनी ऐसी दिखती है, मानों वह सोने की शलाका हो या कोई प्रकाश का प्रपात प्रवाहित हो रहा हो। उस शक्ति का रूप शक्ति में उसी प्रकार समाविष्ट या संलीन हो जाता है, जैसे हृदय भूमि के दर्रे में समा गया हो।

उसे या तो शक्ति कहें या प्राण— वह दोनों है। इस समय वह प्राण के रूप में रहती है। इस समय नाद, बिन्दु, कला, ज्योति— ये नहीं रह जाते। इस समय मन को वशीकृत करना, पवन का आश्रय लेना या ध्यानाभ्यास करना आदि निरर्थक हो जाता है। पिण्ड से पिण्ड का ग्रास, जो कि नाथ सम्प्रदाय का मर्म है, वही भगवान् कृष्ण ने गीता में उद्घाटित किया है।

---

१. भावार्थदीपिका।

जब शक्ति के तेज का लोप हो जाता है तब देह का रूप भी मिट जाता है और योगी इतना सूक्ष्म हो जाता है कि आँख में भी छिप सकता है। वह सावयव होते हुए भी वायुस्वरूप हो जाता है। ऐसा लगता है मानों केले के वृक्ष का गाभा अपने आच्छादन का त्याग करके खड़ा हो गया हो या आकाश के शरीर में अंग उत्पन्न हो गये हों। इस प्रकार का शरीर प्राप्त करने पर उसे खेचर कहते हैं। यह पद प्राप्त होते ही अनेक चमत्कार प्रकट होने लगते हैं। यथा—

१. योगी जहाँ-कहीं से भी निकल जाय, उसके पावों से निर्मित रेखाओं के स्थान पर अणिमादिक सिद्धियाँ उपस्थित हो जाती हैं।

२. देह के देह में पृथ्वी, जल और तेज (अग्नितत्त्व) तीनों महाभूत लुप्त हो जाते हैं।

३. हृदय में पृथ्वीतत्त्व को जलतत्त्व गला देता है। जलतत्त्व अग्नितत्त्व को शुष्क कर डालता है और वायुतत्त्व अग्नितत्त्व को बुझा देता है। फिर केवल वायुतत्त्वमात्र शेष रह जाता है। वह शरीर को आधार प्रदान किये रहता है।

४. इसके अनन्तर वायुतत्त्व भी आकाशतत्त्व में विलीन हो जाता है। इस समय कुण्डलिनी की 'कुण्डलिनी' आख्या न रहकर वायु हो जाती है अर्थात् कुण्डलिनी का नाम वायु हो जाता है। 'कुण्डलिनी' नाम के बदले उसका नाम 'वायु' पड़ जाता है।

५. जब तक कुण्डलिनी ब्रह्म में समाविष्ट नहीं हो जाती, तब तक उसकी शक्ति बनी रहती है। फिर वह जालन्धर बन्ध छोड़ देती है और सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश करती है एवं गगनरूपी पहाड़ी पर जा पहुँचती है।

६. अब कुण्डलिनी ओंकार की पीठ पर पाँव रखकर शीघ्रता से पश्यन्ती वाक् रूपी सीढ़ी पर चढ़ जाती है और जिस प्रकार सागर में सरिता उसी प्रकार ओंकार की अर्द्धमात्रा तक आकाशतत्त्व के हृदय में जा मिलती हुई दिखाई देती है। फिर वह ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर रहकर सोऽहंभावरूपी भुजायें फैलाकर दौड़ती हुई परब्रह्म से मिल जाती है। उस काल में पञ्चमहाभूतों का आवरण विदीर्ण हो जाता है और शक्ति का शक्तिमान के साथ सामरस्य (महामिलन) हो जाता है।

७. उस सामरस्यात्मक ब्रह्मानन्द में आकाशतत्त्व सहित सब कुछ विलीन हो जाता है। उस समय ऐसा प्रतीत होता है; मानों समुद्र ही मेघों के मुख से निकलकर नदी-प्रवाह में बहकर अपने-आप में ही मिल गया हो।[१]

इस समय ऐसा प्रतीत होता है; मानों ब्रह्म ही ब्रह्मपद में समाविष्ट गया हो। ऐसी लोकोत्तर एकता की दशा उपस्थित हो जाती है। इस समय द्वैत निर्मूल हो जाता है।

८. इस समय गगन में गगन विलीन हो जाता है। उस अवस्था का जिसे अनुभव हो जाय, वही सिद्ध पुरुष है।

१. भावार्थदीपिका।

९. उस अनुभव की वार्ता वाणी के हाथ में नहीं आती; अत: संवादरूपी ग्राम में पहुँचना सम्भव नहीं रह पाता। यहाँ तक कि इस अभिप्राय को प्रकट करने वाली वाणी भी दूर रह जाती है।[१]

१०. इस समय भृकुटी की पिछली ओर मकार का भी प्रवेश नहीं हो पाता। अकेले प्राण को भी गगन में प्रवेश करने में सङ्कट का सामना करना पड़ता है और जब वह वहीं मिल जाता है तब शब्दरूपी दिन का अस्त हो जाता है और आकाश का ध्वंस हो जाता है। अतएव महदाकाश के शरीर में जब आकाश का भी ठिकाना नहीं लगता, तब भला शब्द की थाह लग पाना कहाँ सम्भव है? यह वस्तु वाणी द्वारा वर्ण्य एवं कानों द्वारा श्रव्य नहीं है। यदि दैवयोग से कुछ अनुभव प्राप्त हो जाता है तो अनुभवी साधक तद्रूप बन जाता है। उसके अनन्तर कुछ भी ज्ञातव्य नहीं रह जाता।[२]

११. जब शब्द पीछे हटता है तब संकल्प की आयु समाप्त हो जाती है और वहाँ पर विचार की वायु का भी प्रवेश नहीं होता। जो उन्मनी अवस्था की शोभा है, तुर्यावस्था का तारुण्य है, अनादि और अननुमेय परम तत्त्व है, जो विश्व का मूल है, जो योगवृक्ष का फल है, जो आनन्द का जीवन है, जो आकार की अन्तिम सीमा है, जो मोक्ष का एकान्त है, जिसमें आदि और अन्त लीन हो गये हों, जो महाभूतों का बीज है, जो महातेज का तेज है, जो परमात्मा का निजस्वरूप है, वह महासुख अनिर्वाच्य है। यही ब्रह्मप्राप्ति का मार्ग है। इस अनुभूति के होने पर सम्पूर्ण विश्व का लय हो जाता है।[३]

षट्चक्रनिरूपणम् में कुण्डलिनी का स्वरूप— पूर्णानन्द यति ने कुण्डलिनी का स्वरूप इस प्रकार चित्रित किया है—

तस्योर्ध्वे बिसतन्तुसोदरलसत् सूक्ष्मा जगन्मोहिनी
ब्रह्मद्वारमुखं मुखेन मधुरं सञ्छादयन्ती स्वयम्।
शङ्खावर्त्तनिभा नवीनचपला मालाविलासास्पदा
सुप्ता सर्पसमा शिवोपरि लसत् सार्द्धत्रिवृत्ताकृति:।।[४]

कूजन्ती कुलकुण्डली च मधुरं मत्तालिमालास्फुटं
वाचं कोमलकाव्यबन्धरचना भेदातिभेदक्रमै:।
श्वासोच्छ्वासविभञ्जनेन जगतां जीवो यया धार्यते
सा मूलाम्बुजगह्वरे विलसति प्रोद्दामदीप्तावलि:।।

तन्मध्ये परमा कलाऽतिकुशला सूक्ष्मातिसूक्ष्मा परा
नित्यानन्दपरम्परातिविगलत् पीयूषधाराधरा।
ब्रह्माण्डादिकटाहमेव सकलं यद् भासया भासते
सेयं श्रीपरमेश्वरी विजयते नित्यप्रबोधा दया।।[५]

---

१. भावार्थदीपिका। ३. ज्ञानेश्वरी। ५. षट्चक्रनिरूपण। (१२)
२. ज्ञानेश्वर: भावार्थदीपिका। ४. षट्क्रनिरूपण। (१०)

२६. शाम्भवी मुद्रा

१. मन को आज्ञाचक्र में स्थिर करके, दृष्टि को सम स्थल में अधिकाधिक दो हाथ और कम से कम एक बीता के अन्तर से किसी मनोनीत पदार्थ की कल्पना में केन्द्रित करके स्थिर करना या चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते एवं कार्य करते समय अपने में अपना लक्ष्य रखकर अलक्ष्य को लक्ष्य बनाना। परा का स्फुरण यशवन्ती बनकर मध्यमा वैखरी के अर्थ की एकता करता है या नहीं? इसी का निरीक्षण करना आन्तर लक्ष्य है। इसी मुद्रा के करने से शिव जी के नाम पर इसका नाम पड़ा— शाम्भवी मुद्रा।

२. नासिकाग्र भाग पर दृष्टि जमाना चाहिए। इसका भाव यह है कि यदि साधक नेत्रों को अधिक खोलेगा तो विक्षेप होगा और सर्वथा बन्द रखने पर आलस्य से चित्त का लय होगा। अतएव भृकुटी के मध्य में लक्ष्य स्थिर करना चाहिए। नेत्रों को यत्किञ्चित् खुला रक्खे, जिससे चित्त का लक्ष्य अन्तर्मुख (ध्येयाकार) रहे। दृष्टि बाहर की ओर (नेत्र खुला) रहे; किन्तु बाह्य पदार्थ दिखाई न पड़े।

३. दोनों भृकुटियों के मध्य दृष्टि जमाकर स्थिर मन से ध्यान द्वारा परमात्मा का दर्शन करे।

'घेरण्डसंहिता' में कहा गया है कि वेद-शास्त्र-पुराण आदि तो सामान्य गणिका के समान हैं; परन्तु शाम्भवी मुद्रा तो कुलवधू की भाँति सम्माननीय है—

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव।
इयं तु शाम्भवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव।।

जो इसे जानता है, वह आदिनाथ नारायण एवं स्रष्टा ब्रह्मा के समान है—

स एव आदिनाथश्च स च नारायणः स्वयम्।
स च ब्रह्मा सृष्टिकरी यो मुद्रां वेत्ति शाम्भवीम्।।[१]

सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यमुक्तं महेश्वरः।
शाम्भवीं यो विजानीयात् स च ब्रह्मा न चान्यथा।।

शाम्भवी मुद्रा द्वारा चित्त का लय हो जाता है—

अन्तर्लक्ष्यबहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता ।
एषा सा शाम्भवी मुद्रा वेदशास्त्रेषु गोपिता।।

अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी यदा वर्तते
दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरधः पश्यन्नपश्यन्नपि।
मुद्रेयं खलु शाम्भवी भवति सा लब्धा प्रसादाद् गुरोः
शून्याशून्यविलक्षणं स्फुरति तत्तत्त्वं परं शाम्भवम्।।[२]

---

१. हठयोगप्रदीपिका। (४.३५) २. हठयोगप्रदीपिका।

अन्तर्लक्ष्यमनन्यधीरविरतं पश्यन्मुदा संयमी
दृष्ट्युन्मेषनिमेषवर्जितमियं मुद्रा भवेच्छाभवी।
गुप्तेयं गिरिशेन तन्त्रविदुषा तन्त्रेषु तत्त्वार्थिना-
मेषा स्याद्यमिनां मनोलयकरी मुक्तिप्रदा दुर्लभा।।

ऊर्ध्वदृष्टिरधोदृष्टिरुर्ध्ववेधो ह्यध: शिरा:।
राधासन्त्रविधानेन जीवन्मुक्तो भवेत्क्षितौ।।

फल— श्रीशाम्भव्याश्च खेचर्या अवस्थाधामभेदत:।
भवेच्चित्तलयानन्द: शून्ये चित्सुखरूपिणि।।[१]

२७. षड्मुखी मुद्रा

अंगूठों से दोनों कान बन्द करना, तर्जनी और मध्यमा से नेत्र बन्द करना एवं अनामिका-कनिष्ठिका से नासारन्ध्रों को बन्द करके ध्यान लगाने से प्रकाश का साक्षात्कार होता है।

२८. पराङ्मुखी मुद्रा

इसमें कान, नेत्र, नासिका— इन तीनों के दोनों छिद्रों एवं मुख को हाथ की उँगलियों से बन्द करना पड़ता है— 'श्रवणपुटनयनयुगलघ्राणमुखानां निरोधनं कार्यम्।' नादानुसन्धान में इस मुद्रा का प्रयोग किया जाता है; क्योंकि 'शुद्धसुषुम्णासरणौ स्फुटममल: श्रूयते नाद:।' इससे नाद स्फुटतापूर्वक श्रुतिगोचर होता है।[२]

२९. उन्मनी मुद्रा

तारे ज्योतींषि संयोज्य किञ्चिदुन्नमयेद् भ्रुवौ।
पूर्वयोगं मनो युञ्जन्नुन्मनीकारक: क्षणात्।।

इसमें नेत्र के तारों को नासिकाग्र भाग में लगाकर और उससे उत्पन्न ज्योति में मन लगाकर भृकुटियों को थोड़ा ऊपर उठाकर अन्तर्लक्ष्य बहिर्दृष्टि योग की साधना करनी होती है।

३०. माण्डूकी मुद्रा

मुख को बन्द करके जिह्वा की जड़ को तालु के ऊपर चलाना चाहिए और शनै:-शनै: सहस्रदल पद्म से निर्गत पीयूष का पान करना चाहिए। पीयूष-पान की इस यौगिक पद्धति को माण्डूकी मुद्रा कहते हैं—

मुखं सम्मुद्रितं कृत्वा जिह्वामूलं प्रचालयेत्।
शनैर्ग्रसेदमृतं तां माण्डूकीमुद्रिकां विदु:।।

माण्डूकीमुद्रा के अभ्यास का फल— माण्डूकी मुद्रा का नित्य अभ्यास करने

१-२. हठयोगप्रदीपिका।

से साधक के शरीरांगों में वलित (त्वचा-संकुचन), पलित (बालों की श्वेतता) तथा वार्धक्य नहीं आता यौवन में स्थायित्व आ जाता है।

३१. नभोमुद्रा

योगी जब भी कभी कोई भी कार्य करे, तब सदैव जिह्वा को ऊपर की ओर करके कुम्भक प्राणायाम के द्वारा स्थिरता प्राप्त करके वायु धारण करे। ऐसा करने से साधक के समस्त रोगों की निवृत्ति हो जाती है।

३२. वज्रोणि मुद्रा

दोनों हाथों की हथेलियों से पृथ्वी तल को पकड़कर दोनों पैरों को ऊपर उठाते हुए तथा मस्तक को आकाश की ओर ऊपर उठाते हुए हाथों के खड़ा रहने को वज्रोणि मुद्रा कहते हैं। इसे ही वृश्चिकासन भी कहते हैं।

वज्रोणि मुद्राभ्यास के फल— यह योगों में श्रेष्ठतर योग है। यह योगियों को मुक्ति प्रदान करता है। यह योगियों के हित को साधित करने वाला है—

अयं योगे योगश्रेष्ठः योगिनां मुक्तिकारणम्।
अयं हितप्रदो योगो योगिनां सिद्धिदायकः।।

यह योग-साधन बिन्दु-सिद्धि प्रदान करने वाला योग है। यदि बिन्दु की सिद्धि हो जाय तो क्या नहीं सिद्ध हो सकता? भोगी पुरुष भी यदि इसका अभ्यास करे तो समस्त सिद्धियाँ प्राप्त कर लेता है—

भोगेन महता युक्तो यदि मुद्रां समाचरेत्।
तथापि सकला सिद्धिर्भवति तस्य निश्चितम्।।

३३. पञ्चधारणा मुद्रा

इन पञ्चतत्त्वात्मक धारणा मुद्राओं की सविस्तर विवेचना की गई है। पञ्चधारणा मुद्रा के पाँच भेद हैं— पार्थिवी धारणा, आम्भसी धारणा, आग्नेयी धारणा, वायवी धारणा एवं आकाशी धारणा।

१. पार्थिवी धारणा मुद्रा— घेरण्ड ऋषि के अनुसार इसका स्वरूप इस प्रकार है—

१. पृथ्वी तत्त्व का वर्ण (रंग) हरिताल की भाँति पीला है।
२. पृथ्वी तत्त्व का बीज लकार है— 'लं'।
३. पृथ्वी तत्त्व का आकार चौकोर है।
४. पृथ्वी तत्त्व के देवता ब्रह्मा हैं।

इन समस्त बीजादि के साथ ब्रह्मा का हृदय में ध्यान करके उन्हें हृदय में स्थापित करना चाहिये और उस समय प्राणवायु को खींचकर कुम्भक के द्वारा पाँच घड़ी (दो

घण्टा) मन को स्थिर रखना चाहिये। इस अभ्यास को ही पार्थिवी धारणा मुद्रा कहते हैं। इसे ही अधोधारणा भी कहते हैं।

पार्थिवी धारणा का फल— पार्थिवी धारणा के निम्न फल हैं—

(क) पृथ्वी तत्त्व पर विजय।

(ख) मृत्युञ्जयत्व।

(ग) निरापद रूप में समस्त पृथ्वी पर विचरण की क्षमता-प्राप्ति।

२. आम्भसी धारणा मुद्रा— 'वं'—

(क) जल तत्त्व का वर्ण (रंग) शंख के समान श्वेत और चन्द्रमा के समान निर्मल है। यह कुन्द के समान धवल है।

(ख) इसकी संज्ञा अमृत है।

(ग) इसका बीज वर्ण 'वकार' है।

(घ) इसका देवता 'विष्णु' है।

साधक को चाहिये कि इन बीजादिक विवरणों के सहित देवता विष्णु से समन्वित जल तत्त्व का ध्यान करे एवं प्राण को आकृष्ट करके पाँच घड़ी पर्यन्त चित्त को स्थिर करके कुम्भक प्राणायाम करे। इसे ही आम्भसी धारणा मुद्रा कहते हैं।

आम्भसी धारणा मुद्रा का फल—

(क) दु:सह ताप-पाप का अन्त।

(ख) गहरे से गहरे जल में डूबने पर भी मृत्यु से रक्षा।

सावधानी— इस गोपनीय मुद्रा को बता देने पर सिद्धि नष्ट हो जाती है।

३. आग्नेयी धारणा मुद्रा— 'रं' —

(क) तत्त्व का स्थान— नाभिस्थल में अग्नितत्त्व स्थित है।

(ख) तत्त्व का वर्ण— इसका वर्ण इन्द्रगोपवत् रक्त है।

(ग) तत्त्व का बीज— इस तत्त्व का बीज रकार है।

(घ) तत्त्व का आकार— इस तत्त्व का आकार चतुष्कोण है।

(ङ) तत्त्व के देवता— इस तत्त्व के देवता रुद्र हैं।

(च) यह तत्त्व तेज का समूह है और अतिदीप्तिमान है। योग बल से अग्नितत्त्व को उदित करके, एकाग्र चित्त होकर कुम्भक प्राणायाम द्वारा वहाँ प्राण को पाँच घड़ी तक रोकना चाहिये। इसे ही आग्नेयी मुद्रा (वैश्वानरी धारणा) कहते हैं।

वैश्वानरी धारणा मुद्रा का फल—

(क) काल के भय से मुक्ति।

(ख) प्रदीप्त अग्नि में प्रवेश से भी व्यक्ति पर अग्नि का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता।

४. वायवी धारणा मुद्रा — 'यं'—

(क) वायु तत्त्व का वर्ण— अञ्जन के समान धूम्रवर्ण।

(ख) वायु तत्त्व का बीज— वायु तत्त्व का बीजाक्षर है— यकार।

(ग) वायु तत्त्व का देवता— इस तत्त्व के देवता ईश्वर हैं।

(घ) वायु तत्त्व का गुण— इस तत्त्व का गुण सतोगुण है।

योग के प्रभाव से वायु तत्त्व का उदय करके, एकाग्र चित्त होकर, प्राणवायु को आकृष्ट करके कुम्भक प्राणायाम की सहायता से वायु को पाँच घड़ी तक धारण करना ही वायवी धारणा मुद्रा है।

वायवी धारणा मुद्रा का फल—

१. आकाश में चलने की क्षमता।

२. वार्धक्य एवं मृत्यु का विनाश।

३. वायु-प्रकोप या वायु-शक्ति से मृत्यु न होने की क्षमता-प्राप्ति।

सावधानी— अपात्र के समक्ष सिद्धि-भेद प्रकट कर देने पर सिद्धि का लुप्त हो जाना निश्चित है; अत: इसे गोपनीय रखना चाहिये।

५. आकाशी धारणा मुद्रा — 'हं'—

(क) आकाश तत्त्व का वर्ण— इसका वर्ण समुद्र के जल की भाँति विशुद्ध है।

(ख) आकाश तत्त्व के देवता— इस तत्त्व के देवता सदाशिव हैं।

(ग) आकाश तत्त्व का बीजाक्षर— इस तत्त्व का बीजाक्षर 'हं' है।

योग के प्रभाव से हृदय में आकाश तत्त्व का उदय करके (आकाश तत्त्व के देवता, बीज आदि के साथ तत्त्व का ध्यान करके) प्राणवायु को कुम्भक प्राणायाम के द्वारा पाँच घड़ी तक स्तम्भित किये रहना ही आकाशी धारणा मुद्रा है।

आकाशी धारणा मुद्रा का फल—

१. इसका ज्ञानी ही योगवित् है, अन्य नहीं।

२. इसकी मृत्यु कभी नहीं होती और प्रलयकाल में भी वह दु:खी नहीं होता।

सारी मुद्राओं का सामान्य फल यह है कि ये सभी सिद्धों को अत्यन्त प्रिय हैं और जरा-मरण को नष्ट कर देने वाली हैं।

इदं तु मुद्रापटलं कथितं चण्डकापलि।
वल्लभं सर्वसिद्धानां जरामरणनाशनम्।।

ये मुद्रायें समस्त रोगों की नाशिका हैं और जठराग्नि को तीव्रतर करने वाली हैं—

मुद्राणां पटलं ह्येतत्सर्वव्याधिविनाशनम्।
नित्यमभ्यासशीलस्य जठराग्निविवर्धनम्।।

मुद्रा-साधकों को मृत्यु, जरा, अग्नि, जल एवं वायु से सम्बद्ध कोई भय कभी भी कष्ट नहीं देता—

तस्य नो जायते मृत्युर्नास्य जरादिकं तथा।
नाग्निर्जलभयं तस्य वायोरपि कुतो भयम्।।

ऐसे साधकों को कास, श्वास, प्लीहा, कुष्ठ, कफ आदि का भी कोई भय सन्तप्त नहीं करता। इनके समान पृथ्वी पर कोई भी साधना इतनी अधिक सिद्धियाँ प्रदान नहीं कर सकतीं।

नास्ति मुद्रासमं किञ्चित् सिद्धिदं क्षितिमण्डले।

नाथपन्थ एवं अन्य शैव-शाक्त पन्थों में मुद्रा के प्रयोग

नाथपन्थी मुद्रा को दो अर्थों में प्रयुक्त करते हैं और वे हैं— शारीरिक धरातल एवं मानसिक धरातल।

कनकटा योगी कान फाड़कर कुण्डल धारण करते हैं। इसे वे कर्णमुद्रा कहते हैं। योगी लोग मुद्रा, नाद, कन्था, आसन, खप्पर, झोली, विभूति एवं बटुवा आदि धारण करते थे और 'अजपाजाप' करते थे। बंगाल के पुराने नाथपन्थी (योगी या कापालिक) अपने कानों में मनुष्य की अस्थियों का कुण्डल एवं ग्रीवा में अस्थियों की माला धारण करते थे। ये पैरों में नूपुर एवं हाथों में नरकपाल लेकर चलते थे। मेखला, गोपीयन्त्र (सारंगी) एवं भस्म भी रखते थे। रुद्राक्ष, पवित्री, शृंगी, लंगोटी, घंघारी, सुमिरनी एवं किंगरी को भी व्यवहार में लाते थे।

वैष्णव एवं शैव परम्परा में शंख एवं त्रिशूल आदि को आग पर गर्म करके शरीर पर उसका स्पर्श कराकर उसकी अनुकृति को शरीरांग पर धारण करने के रूप में मुद्रा धारण करने की परिपाटी विद्यमान है।

कबीरदास ने मुद्रा को मानसिक धरातल पर प्रयोग करने का परामर्श देकर इसे प्रतीकार्थ में ग्रहण किया है। वे कहते हैं—

सो जोगी जाके मन में मुद्रा। रात दिवस ना करई निद्रा।।
मन में आसण मन में रहणा। मन का जप तप मन सू कहँणा।।
मन खपरा मन मैं सींगी। अनहदनाद बजावै रंगी।।
पंच प्रजारि भसम करि भूका। कहै कबीर सो लहसै लंका।।

अष्टमुद्रायें और उनका स्वरूप

गोरक्षनाथ की स्वयं की एक पुस्तक ही है, जिसका नाम है— 'अष्टमुद्रा'। उसमें वर्णित ये अष्टमुद्रायें निम्नवत् हैं—

१. मूलनी मुद्रा— (काम-तृष्णा का उद्भव) काम एवं तृष्णा में समत्वस्थापन। (इन्द्रिय = जननेन्द्रियसम्बन्धी)।

२. जलश्री मुद्रा— (नाभि-स्थान में काल-क्रोध) उद्देश्य क्या है? काल एवं क्रोध में समत्वभाव की स्थापना।

३. खीरनी मुद्रा— (हृदय स्थान में ज्ञानदीप लेकर आविर्भूत) ज्ञानदीप में समत्व भावस्थापन।

४. खेचरी मुद्रा— (मुख में उत्पन्न, स्वाद-विस्वाद लेकर उत्पन्न) इन दोनों में समत्व स्थापन = खेचरी मुद्रा।

५. भूचरी मुद्रा— (नासिका के मध्य उत्पन्न) (गन्ध-विगन्ध लेकर उत्पन्न) गन्ध-विगन्ध में समत्वस्थापना = भूचरी मुद्रा।

६. चाचरी मुद्रा— (आँख के मध्य उत्पन्न) (दृष्टि-विदृष्टिसहित उत्पन्न) दृष्टि-विदृष्टि में समत्वस्थापना = चाचरी मुद्रा।

७. अगोचरी मुद्रा— शब्द-कुशब्द के साथ उत्पन्न, (करण के मध्य उत्पन्न) = दृष्टि-विदृष्टि में समत्व-स्थापना = अगोचरी मुद्रा।

८. उन्मनी मुद्रा— (परम ज्योति लेकर उत्पन्न। ब्रह्माण्ड स्थान में उत्पन्न) परम ज्योति को समभावस्थ करने से उन्मनी ज्योति सिद्ध होती है।

अष्ट मुद्रा के ज्ञान का लाभ— यती अष्ट मुद्रा का जाणो भेव। सो आपै करता आपै देव।

गोरक्षनाथ मनमुद्रा का भी विधान करते हैं—

मन मुद्रा कै रूप न रेख। जगत रूप मन ही मन देखि।।
काया थै मन जांन न देह। रति दिवस अभि अंतरि लेह।।

मन को रात-दिन कभी भी शरीर से बाहर जाने ही नहीं देना चाहिए। मन के इस अनवरत अन्तर्मुखीकरण को ही मनमुद्रा कहते हैं।

वज्रोली और अमरोली— इसके विषय में गोरक्षनाथ कहते हैं—

बजरी करंतां अमरी राखै अमरि करंतां बाई।
भोग करंतां जे ब्यंद राखै ले गोरख का गुरभाई।। (गो० बा०)

गुरु गोरक्षनाथ विपरीतकरणी मुद्रा का विधान करते हुए कहते हैं—

विपरीत करणी करि लै जूं थिर ह्वै वाई। वाई जब थिरि ह्वै महारस सीझै।।

(गो० बा०-१४९)

घेरण्ड ऋषि का कथन है कि मुद्रा की योगसाधना में इसलिए महत्ता है; क्योंकि मुद्रा स्थिरता प्रदान करती है—

मुद्राया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता।।

मन्त्रशास्त्रीय मुद्रायें

योगशास्त्रीय (हठयौगिक) मुद्राओं के अतिरिक्त मन्त्रशास्त्रीय मुद्रायें भी होती हैं। इन मन्त्रशास्त्रीय मुद्राओं में मुख्य मुद्रायें निम्नांकित हैं—

१. सम्मुखम्— इसमें दोनों हाथों की उँगलियों को एक-दूसरे के साथ मिलाना होता है।

२. सम्पुटम्— इसमें दोनों हाथों की हथेलियों को फुलाकार एक हथेली की उँगलियों को दूसरे हाथ की उँगलियों पर रखकर सामने की ओर कली के आकार में रखकर प्रस्तुत किया जाता है।

३. विततम्— इस मुद्रा में दोनों हाथों की हथेलियों को एक-दूसरे के सामने रखा जाता है।

४. विस्तृतम्— इस मुद्रा में दोनों हाथों की हथेलियों को कुछ दूरी पर रखकर उँगलियों को खुला रखा जाता है।

५. द्विमुखम्— इस मुद्रा में दोनों हाथों की हथेलियों को (एक हथेली की कनिष्ठ उँगली से दूसरे हाथ की कनिष्ठ उँगली एवं एक हाथ की अनामिका से दूसरे हाथ की अनामिका को) आपस में मिलाना चाहिए।

६. त्रिमुखम्— इस मुद्रा में दोनों मध्यमाओं को उँगली के अग्र भाग से स्पर्श किया जाता है (मध्यमा उँगलियों को परस्पर मिलाया जाता है)।

७. चतुर्मुखम्— इस मुद्रा में त्रिमुखम् मुद्रा के साथ दोनों तर्जनियों को भी मिला देना चाहिए।

८. पञ्चमुखम्— चतुर्मुखम् मुद्रा के साथ दोनों अंगूठों को मिला देने पर पञ्च-मुखम् मुद्रा होती है।

९. षण्मुखम्— पञ्चमुखम् मुद्रा के साथ कनिष्ठाओं को खोल देना चाहिये।

१०. अधोमुखम्— दोनों हाथों को उल्टा करके उनकी अँगुलियों को मोड़े और उन्हें मिलाकर नीचे की ओर कर देना चाहिए।

११. व्यापकाञ्जलिकम्— इस प्रकार से मिले हुए हाथों को शरीर की ओर से घुमाकर सीधा कर देना चाहिए।

१२. शकटम्— दोनों हाथों को उल्टा कर दें, एक हाथ का अंगूठा दूसरे हाथ के अंगूठे से मिला दें। तर्जनियाँ सीधी रखें एवं मुट्ठी बांध दें।

१३. यमपाशम्— इस मुद्रा में तर्जनी उँगली से तर्जनी को बाँधना होता है और साथ ही दोनों मुट्ठियों को भी बाँधा जाता है।

१४. ग्रन्थितम्— दोनों हाथों की उँगलियों को एक-दूसरे के साथ ग्रन्थित करना चाहिए।

१५. सन्मुखोन्मुखम्— इस मुद्रा में दोनों हाथों की पाँचों उँगलियों को मिलाना चाहिए। पहले बायें हाथ पर दाहिना हाथ रखा जाय और उसके बाद दायें हाथ पर बायाँ हाथ रखना चाहिए।

१६. प्रलम्बम्— इस मुद्रा में दोनों हाथों की उँगलियों को कुछ मोड़ कर फिर उन्हें उल्टा करके नीचे की ओर कर देना चाहिए।

१७. मुष्टिकम्— इस मुद्रा में दोनों हाथों की मुट्ठियों को बाँधकर परस्पर मिलाना चाहिए और इसमें दोनों अंगूठों को ऊपर की ओर ही रखना चाहिए।

१८. मत्स्य— इस मुद्रा में दोनों हाथों को पूरा खोल देना होता है। दायें हाथ को पीठ पर बायाँ हाथ उल्टा करके रखना चाहिए। दोनों अंगूठों को पृथक्-पृथक् रखना चाहिए।

१९. कूर्म— सीधे बायें हाथ की मध्यमा, अनामिका और कनिष्ठिका को मोड़ें, उल्टे दाहिने हाथ को मध्यमा-अनामिकाओं को उन तीनों उँगलियों के नीचे रक्खें और बायीं तर्जनी पर दायीं कनिष्ठिका एवं बायें अंगूठे पर दायीं तर्जनी रखनी चाहिए।

२०. वराहकम्— इस मुद्रा में दायें हाथ की तर्जनी उँगली को बायें अँगूठे से मिलाना चाहिए एवं दोनों हाथों की उँगलियों को एक-दूसरे से बाँधना चाहिए।

२१. सिंहाक्रान्तम्— इस मुद्रा में दोनों हाथों को कानों के निकट लाना पड़ता है और इसके साथ ही हाथ को खुला रखना पड़ता है। इसमें हथेलियाँ सामने रखी जाती हैं।

२२. महाक्रान्तम्— इस मुद्रा में दोनों हाथों की उँगलियों को कानों के निकट लाया जाता है।

२३. मुद्गरम्— इस मुद्रा में दायें हाथ की मुट्ठी बाँधकर बायें हाथ की हथेली पर दाहिनी कोहनी रखी जाती है।

२४. पल्लवम्— इस मुद्रा में दायें हाथ की उँगलियों को मुख के सामने हिलाना चाहिए।

●

कार्यविशेष में प्रयोज्य मुद्रायें

देवोपासना की मुद्रायें— आवाहन, स्थापन, सन्निद्ध, अवगुण्ठन, धेनुमुद्रा, सरली।

भोजन-मुद्रायें— प्राणाहुति, अपानाहुति, व्यानाहुति, उदानाहुति, समानाहुति।

पञ्चदेव-मुद्रायें— शंख, घंटा, चक्र, गदा, पद्म, वंशी, कौस्तुभ, श्रीवत्स, वनमाला, ज्ञान, बिल्व, गरुड़, नारसिंही, वाराह, हयग्रीव, धनुष, बाण, परशु, त्रैलोक्यमोहिनी, काम, मत्स्य, कूर्म, लिंग, योनि, त्रिशूल, अक्ष, वर, मग, क्षट्वांग, अभय, कपाल, डमरु, दन्त, पाश, अंकुश, विघ्न, परशुमोदक, बीजपुर, पद्म।

न्यास-मुद्रा— सर्वसिद्ध्यै व्याघ्रचर्म ज्ञानसिद्ध्यै मृगाजिनम्।
वस्त्रासनं रोगहरं वेत्रजं श्रीविवर्धनम्।।
मुदं करोति देवानां द्रावयत्यसुरांस्तथा।
मोदनाद् द्रावणाच्चैव मुद्रेति परिकीर्तिता।।

अर्थात् देवताओं को हर्ष तथा असुरों का विनाश करने के कारण ही इसका नाम मुद्रा पड़ा।

जप से पहले २४ मुद्राओं के प्रदर्शन का विधान शास्त्रों में मिलता है। मुद्रा का अभिप्राय हाथ को विशेष आकृति में मोड़ना है। हाथों को विभिन्न प्रकार से मोड़ने पर अलग-अलग मुद्रायें बनती हैं। मुद्राओं का प्रदर्शन अपने इष्टदेवता की मूर्ति, चित्र या यन्त्र के समक्ष एकान्त स्थान में किया जाता है। किसी दूसरे व्यक्ति के उपस्थित रहने पर इनका प्रदर्शन वर्जित है। जप के पूर्व की २४ मुद्राओं के नाम इस प्रकार हैं—

नित्य पूजा-मुद्रायें— प्रार्थना, अंकुश, कुन्त, कुम्भ, तत्त्व। ये सभी मुद्रायें प्रत्येक साधक को दैनिक स्नानादि के समय करनी चाहिये।

सन्ध्या-मुद्रायें— सन्ध्याकाल की चौबीस मुद्रायें हैं— सम्मुखी, सम्पुटी, विंतत, विस्तृत, द्विमुखी, त्रिमुखी, चतुर्मुखी, पञ्चमुखी, षष्टमुखी, अधोमुखी, व्यापक, आञ्जलिक, शकट, यम, पाश, ग्रथित, सन्मुखोन्मुखी, प्रलय, मुष्टिक, मत्स्य, कूर्म, वाराह, सिंहाक्रान्त, महाक्रान्त, मुद्गर।

शक्ति-मुद्रायें— अंकुश, वर, अभय, धनुष, बाण, खड्ग, चर्म, मूसल, दुर्ग।

महाकाली-मुद्रायें— महायोनि, मुण्ड, भूतिनी।

महालक्ष्मी-मुद्रायें— पंकज, अक्षमाला, वीणा, व्याख्यान, पुस्तक।

तारा-मुद्रायें— योनि, भूतिनी, बीज, धूमिनि, लेलिहा।

त्रिपुरा-मुद्रायें— सर्वविक्षोभकारिणी, सर्वविद्राविणी, सर्वाकर्षणी, सर्ववश्यकरी, उन्मादिनी, महांकुशा, खेचरी, बीज, योनि।

अंगन्यास-मुद्रायें— अंगन्यास की छः मुद्रायें होती हैं— हृदय, शिर, शिखा, कवच, नेत्र, फट्।

करन्यास-मुद्रायें— करन्यास की भी छः मुद्रायें होती हैं— तर्जनी, मध्यमा, अनामिका, कनिष्ठिका, अंगुष्ठ, फट्।

जीवन्यास-मुद्रायें— इसकी भी छः मुद्रायें होती हैं— बीज, लेलिहा, त्रिखण्डा, नाद, बिन्दु, सौभाग्य।

ध्यानावेश-प्रार्थना में— विघ्नघ्नी, विस्मय, प्रार्थना, अर्घ्य, सूर्य-प्रदर्शनी।

योग-साधना में— मुकुल, पङ्कज, व्याक्रोशी, निष्ठुर, योग, महामुद्रा, उड्डीयान, महाखग, जालन्धर, मूलबन्ध, महावेध, विपरीतकरणी, वज्रोली, माण्डूकी, शाम्भवी।

पञ्च-तत्त्व की मुद्रायें— पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातङ्गिनी, भुजङ्गिनी, रिपु-जिह्वाग्रहा, गालिनी, सर्वसंक्षोभकारिणी, तर्जनी, क्रोध।

शान्ति-रक्षण— अशनि (कुशलि), स्फोट (छेटिका), शुभङ्करी, मुष्टी, शक्ति, पञ्चमुखी, प्रार्थना, संहार, बलिदान की चार मुद्रायें।

होम की मुद्रायें— अवगुण्ठिनी, सप्तजिह्वा, प्रज्वालिनी, मृगी, हंसी, शूकरी, काम्य मुद्रायें, आवशिष्टिका मुद्रा।

●

विविध देवमुद्रायें

विष्णु— शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म, वेणु, श्रीवत्स, कौस्तुभ, वनमाला, ज्ञान, बिल्व, गरुड़, नृसिंह, वराह, हयग्रीव, धनुष, बाण, परशु, जगन्मोहन, काम।

शिव— लिङ्ग, योनि, त्रिशूल, अक्ष, वर, अभय, मृग, खट्वाङ्ग, कपाल, डमरु।

गणेश— दन्त, पाश, अंकुश, विघ्न, परशु, मोदक, बीजपूर।

सूर्य— पद्म।

शक्ति— पाश, अंकुश, वर, अभय, धनुष, बाण, खड्ग, चर्म, मूशल, दुर्ग।

महाकाली—महायोनि, मुण्ड, भूतिनी।

महालक्ष्मी— लक्ष्मी, चक्र।

महासरस्वती— अक्षमाला, वीणा, व्याख्या, पुस्तक।

तारा— योनि, भूतिनी, बीज, धूमिनी, लेलिहा।

त्रिपुरसुन्दरी— सर्वसंक्षोभिणी, सर्वविद्राविणी, सर्वाकर्षणी, सर्ववश्यकरी, सर्वोन्मादिनी, महांकुशा, खेचरी, बीज, योनि।

भुवनेशी— पाश, अंकुश, वर, अभय, पुस्तक, ज्ञान, बीज, योनि।

●

मुद्राओं के स्वरूप

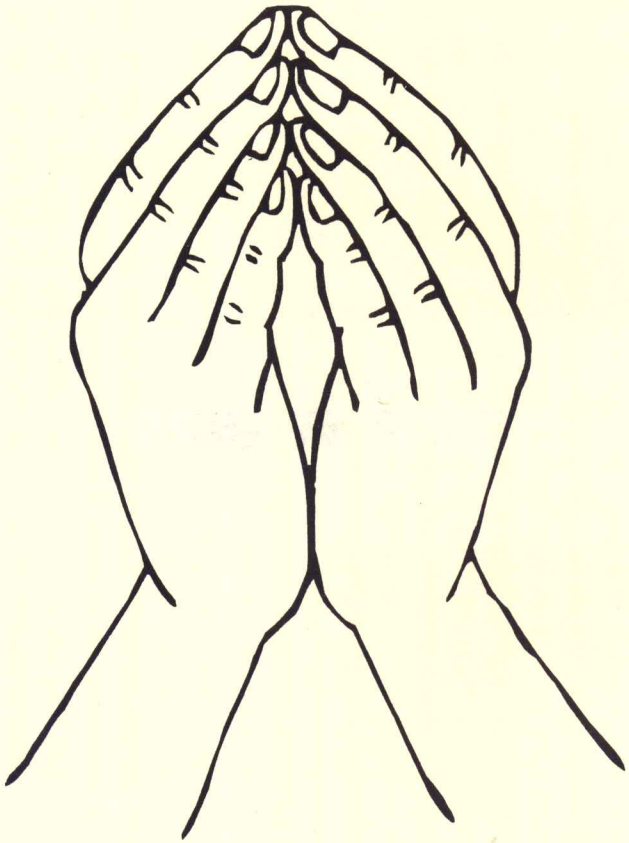

(१) प्रार्थना मुद्रा

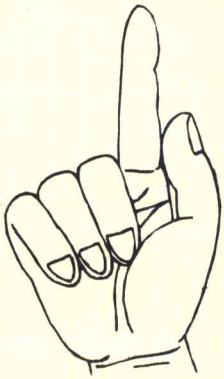

(४) कुन्त मुद्रा

(२) अंकुश मुद्रा (अ)

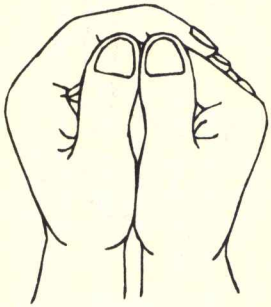

(५) कुम्भ मुद्रा (अ)

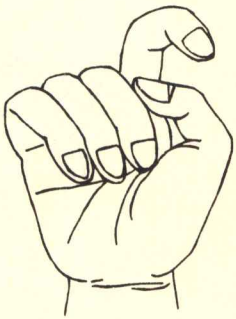

(३) अंकुश मुद्रा (ब)

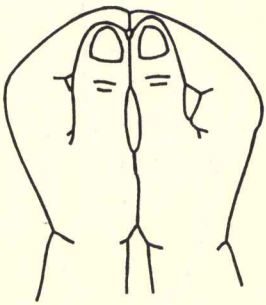

(६) कुम्भ मुद्रा (ब)

(७) तत्त्व मुद्रा

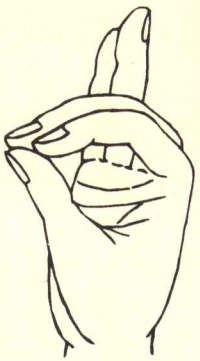

(१०) अपान मुद्रा

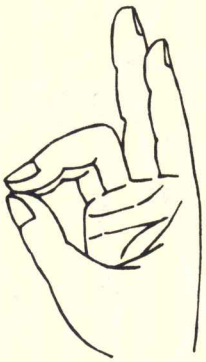

(८) प्राण मुद्रा (अ)

(११) व्यान मुद्रा

(९) प्राण मुद्रा (ब)

(१२) उदान मुद्रा

(१३) समान मुद्रा

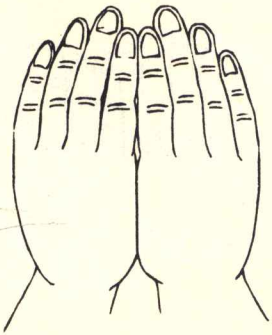

(१६) संस्थापनी मुद्रा

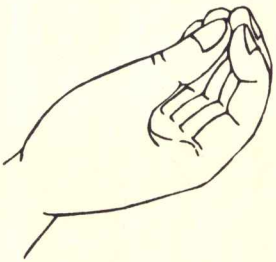

(१४) ग्रास मुद्रा

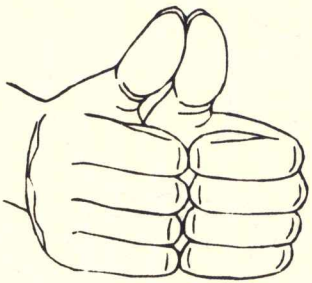

(१७) सन्निधापनी मुद्रा

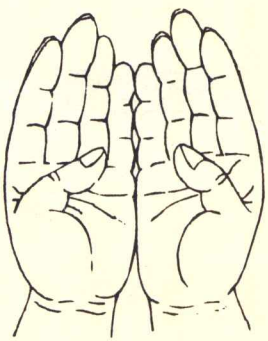

(१५) आवाहनी मुद्रा

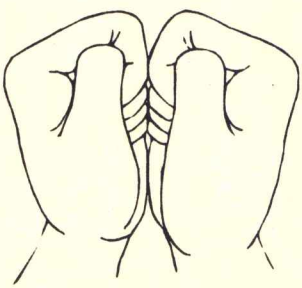

(१८) सन्निरोधिनी मुद्रा

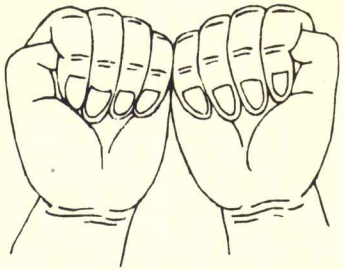

(१९) सम्मुखीकरणी मुद्रा (अ)

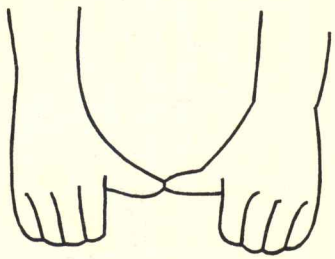

(२०) सम्मुखीकरणी मुद्रा (ब)

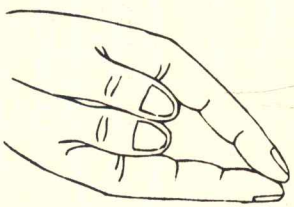

(२१) अवगुण्ठनी मुद्रा

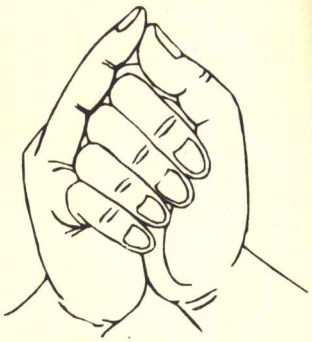

(२२) शङ्ख मुद्रा

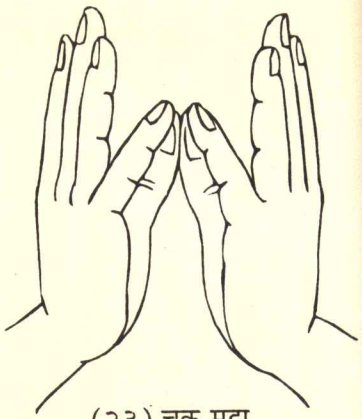

(२३) चक्र मुद्रा

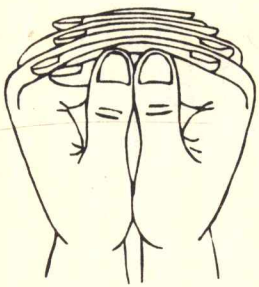

(२४) गदा मुद्रा

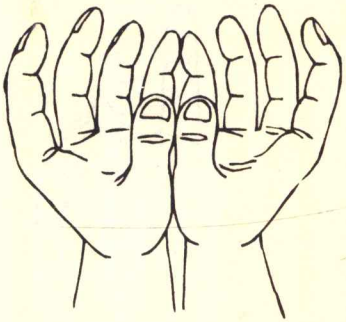

(२५) पद्म मुद्रा

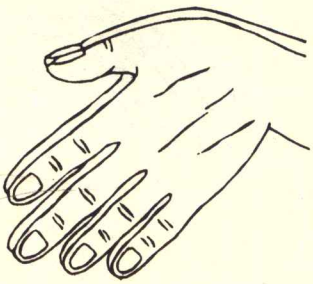

(२८) परशु मुद्रा

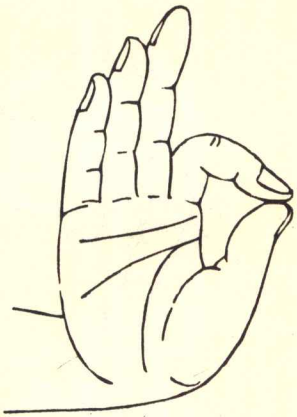

(२६) ज्ञान मुद्रा (अ)

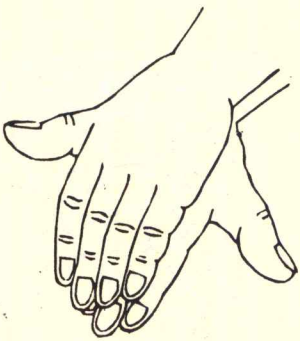

(२९) मत्स्य मुद्रा

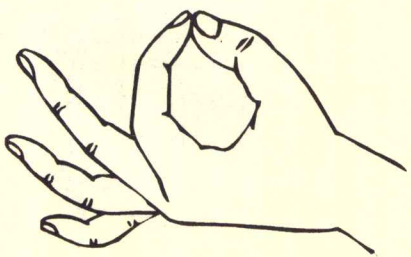

(२७) ज्ञान मुद्रा (ब)

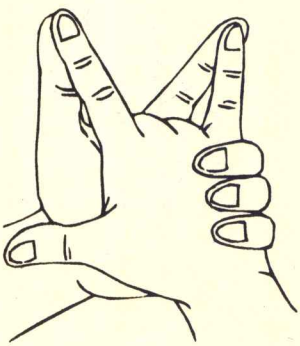

(३०) कुर्म (कच्छप) मुद्रा

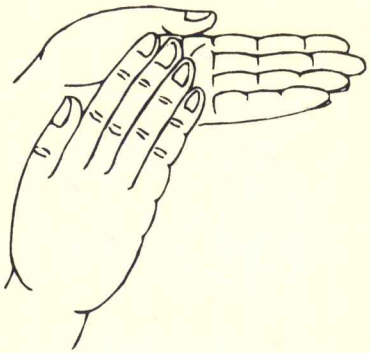

(३१) हयग्रीव मुद्रा

(३४) दन्त मुद्रा

(३२) वर मुद्रा

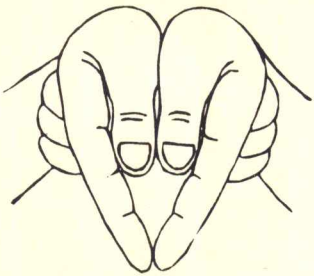

(३५) पाश मुद्रा

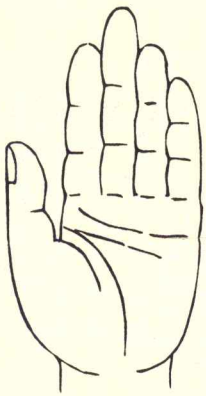

(३३) अभय मुद्रा

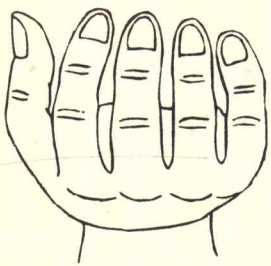

(३६) मोदक मुद्रा

(३७) खड्ग मुद्रा

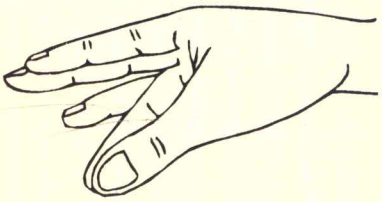

(४०) लेलिहा मुद्रा

(३८) मुशल मुद्रा

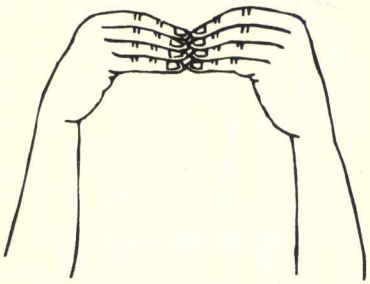

(४१) सुमुखी मुद्रा

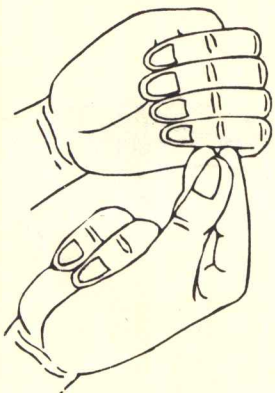

(३९) मुण्ड मुद्रा

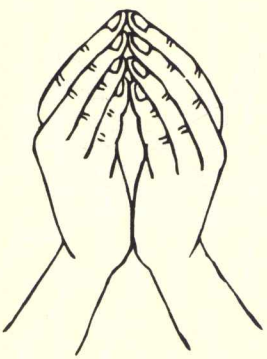

(४२) सम्पुटी मुद्रा

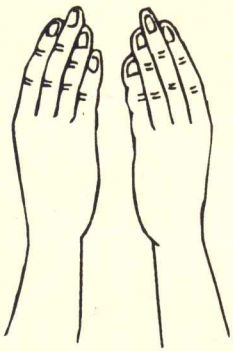

(४३) विततत मुद्रा

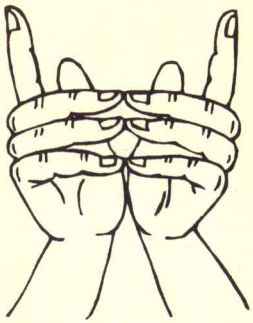

(४६) त्रिमुखी मुद्रा

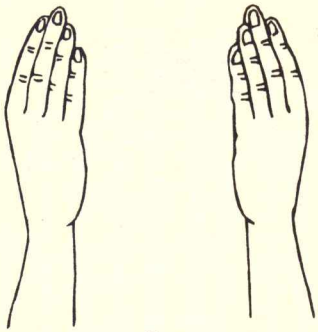

(४४) विस्तृत मुद्रा

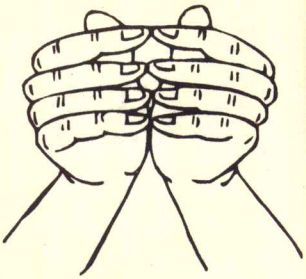

(४७) चतुर्मुखी मुद्रा

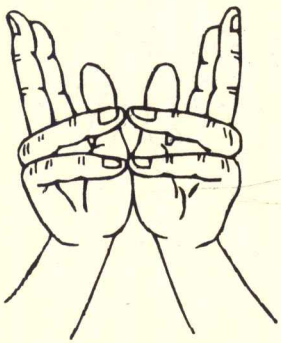

(४५) द्विमुखी मुद्रा

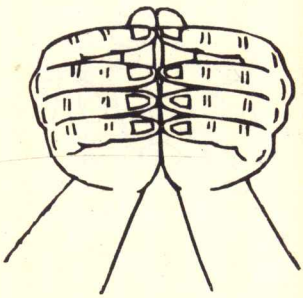

(४८) पञ्चमुखी मुद्रा

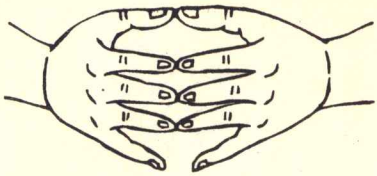

(४९) षण्मुखी मुद्रा

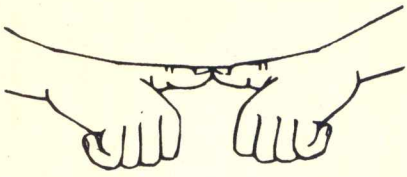

(५२) शकट मुद्रा

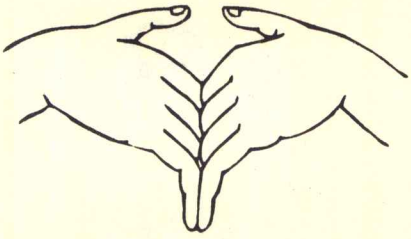

(५०) अधोमुखी मुद्रा

(५३) यम-पाश मुद्रा

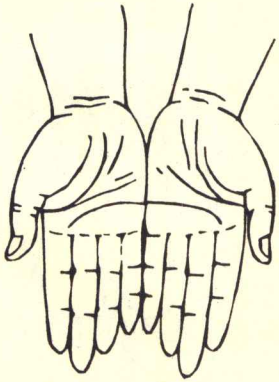

(५१) व्यापकाञ्जलि मुद्रा

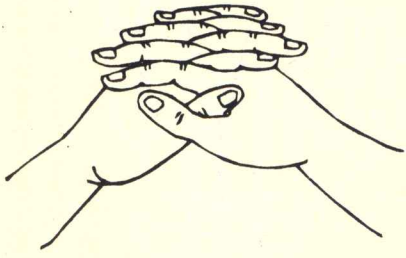

(५४) ग्रन्थित मुद्रा

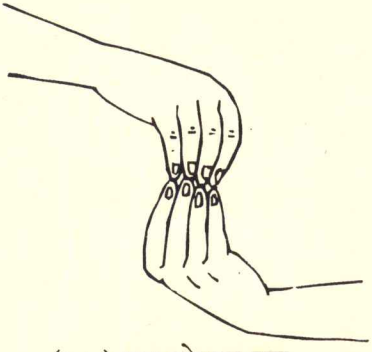

(५५) सम्मुखोन्मुख मुद्रा

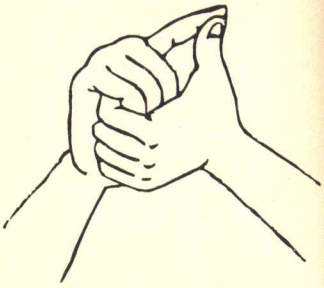

(५८) वराह मुद्रा

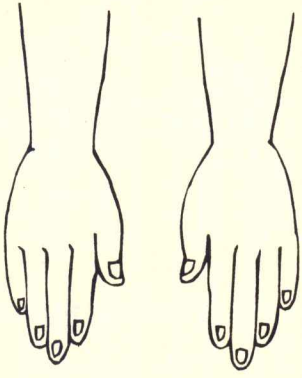

(५६) प्रलम्ब मुद्रा

(५९) सिंहाक्रान्त मुद्रा

(५७) मुष्टिक मुद्रा

(६०) महाक्रान्त मुद्रा

(६१) मुद्गार मुद्रा

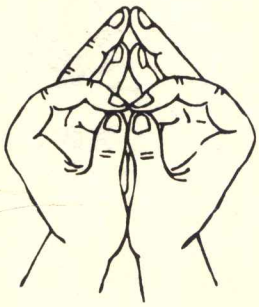

(६४) बीज मुद्रा

(६२) पल्लव मुद्रा

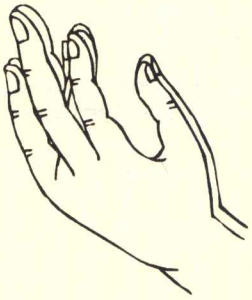

(६५) त्रिखण्डा मुद्रा

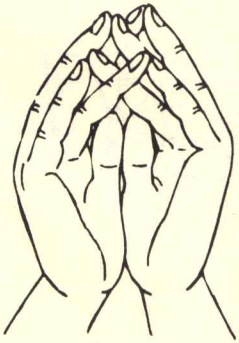

(६३) धेनु मुद्रा

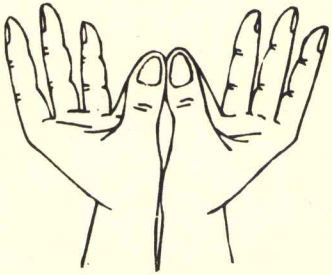

(६६) ज्वालिनी (सप्तजिह्वा) मुद्रा

(६७) मृगी मुद्रा

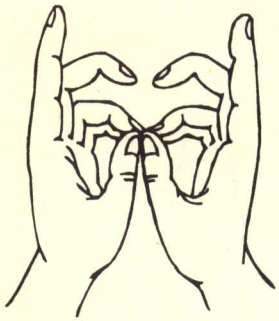

(७०) सर्वाकर्षिणी मुद्रा

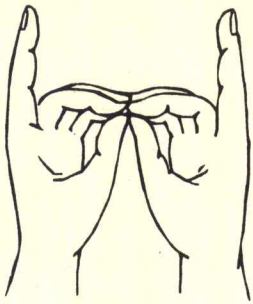

(६८) सर्व-संक्षोभिणी मुद्रा

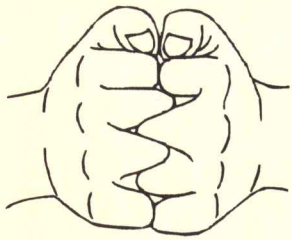

(७१) सर्व-वशङ्करी मुद्रा

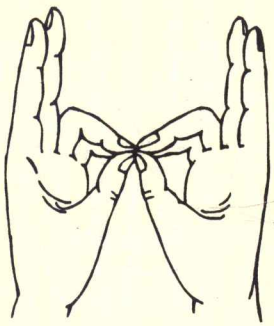

(६९) सर्व-विद्राविणी मुद्रा

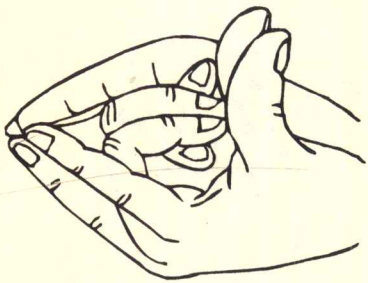

(७२) सर्वोन्मादिनी मुद्रा

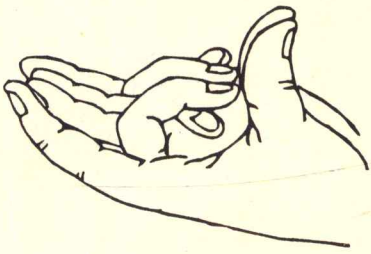

(७३) सर्व-महाङ्कुशा मुद्रा

(७६) संहार मुद्रा (अ)

(७४) खेचरी मुद्रा

(७७) संहार मुद्रा (अ)

(७५) योनि मुद्रा

(७८) सुरभि मुद्रा

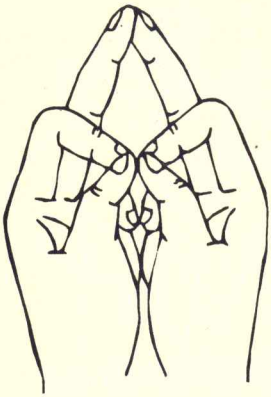

(७९) सर्वबीज मुद्रा

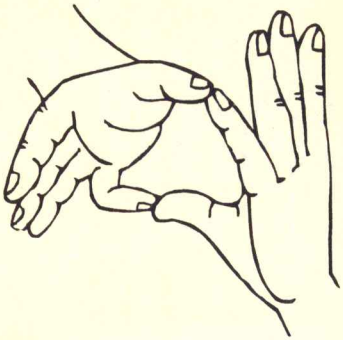

(८२) गालिनी मुद्रा

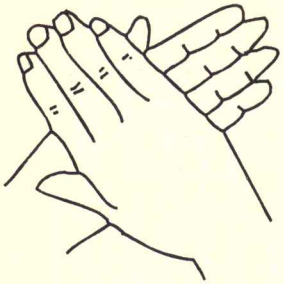

(८०) चतुरस्र मुद्रा

(८३) वरुण मुद्रा

(८१) सौभाग्यदण्डिनी मुद्रा

(८४) पृथ्वी मुद्रा

(९१) वायु मुद्रा

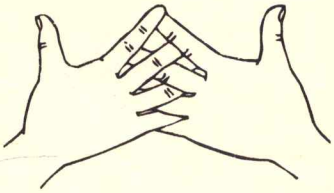

(९४) वज्रप्रदम मुद्रा

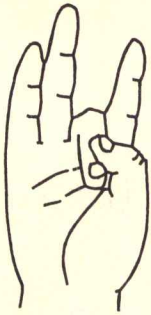

(९२) आकाश मुद्रा

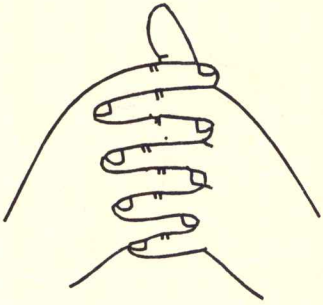

(९५) लिङ्ग मुद्रा

(९३) सूर्य मुद्रा

(९६) निर्वाण मुद्रा

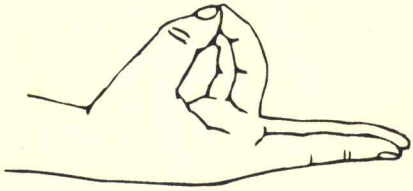

(९७) पूषण मुद्रा (अ)

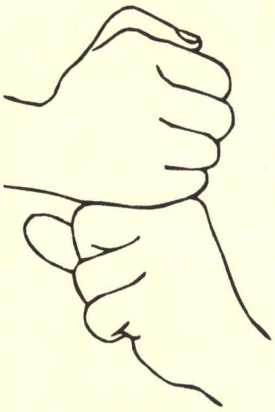

(१००) कुण्डलिनी मुद्रा

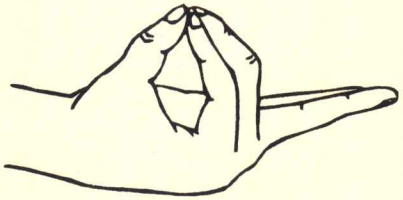

(९८) पूषण मुद्रा (ब)

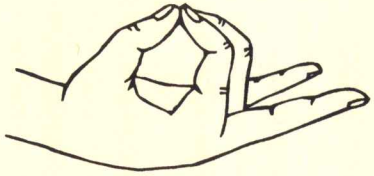

(१०१) रुद्र मुद्रा

(९९) कुबेर मुद्रा

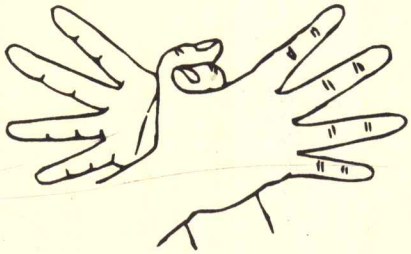

(१०२) गरुड मुद्रा

(१०३) मातंगी मुद्रा

(१०६) भ्रमर मुद्रा

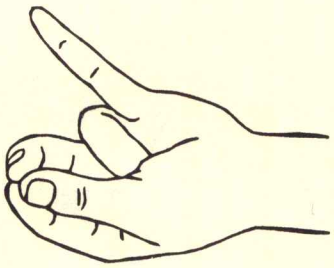

(१०४) महाशीर्ष मुद्रा

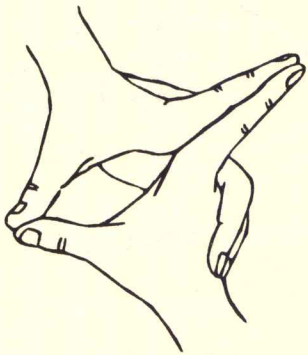

(१०७) उत्तरबोधी मुद्रा

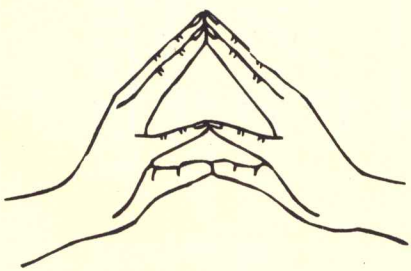

(१०५) हाकिनी मुद्रा

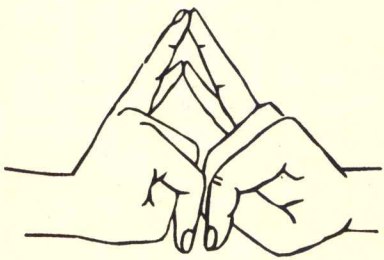

(१०८) शक्ति मुद्रा

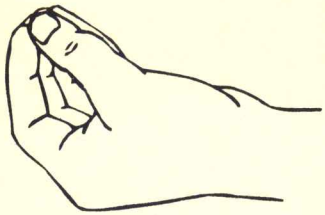

(१०९) मुकुल मुद्रा

(११२) ध्यानी मुद्रा

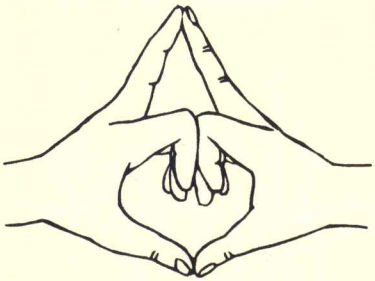

(११०) कालेश्वर मुद्रा

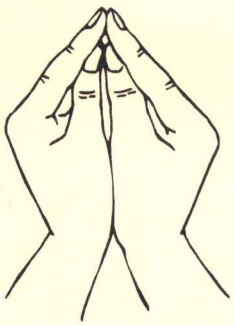

(११३) अन्तः मुद्रा

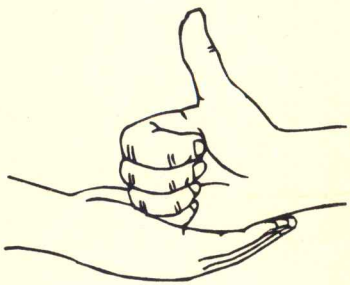

(१११) शिवलिङ्ग मुद्रा

(११४) वरद मुद्रा

(११५) भूमिस्पर्श मुद्रा

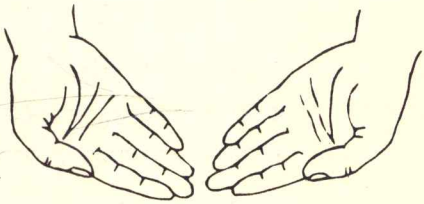

(११८) पुष्पपुट मुद्रा

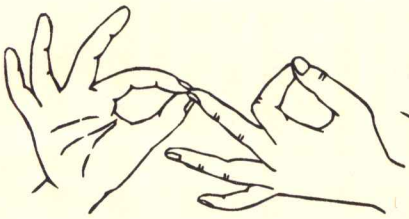

(११६) धर्मचक्र मुद्रा

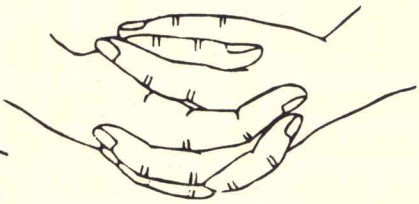

(११९) उषस् मुद्रा

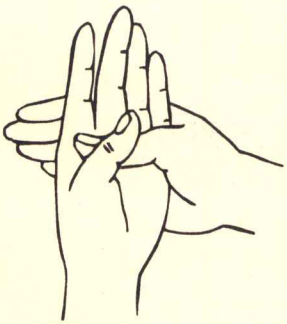

(११७) नाग मुद्रा

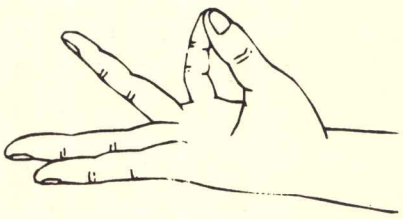

(१२०) भूडी मुद्रा

मुद्राओं के लक्षण

हस्तद्वये त्वधोवक्त्रे सम्मुखे च परस्परम्।
वामाङ्गुलीर्दक्षिणानामङ्गुलीनां च सन्धिषु।।
संवेश्य मध्यमाभ्यां तु तर्जन्यौ द्वे प्रयोजयेत्।
कनिष्ठे द्वे अनामाभ्यां युञ्जयात् सा **धेनुमुद्रिका**।।

वामाङ्गुष्ठं तु संगृह्य दक्षिणेन तु मुष्टिना।
कृत्वोत्तानं तथा मुष्टिमङ्गुष्ठं तु प्रसारयेत्।।
वामाङ्गुलीस्तथा श्लिष्टाः संयुक्ताः सुप्रसारिताः।
दक्षिणाङ्गुष्ठसंस्पृष्टा मुद्रा **शङ्खस्य** चोदिता।।

हस्तौ तु सम्मुखौ कृत्वा संलग्नौ सुप्रसारितौ।
कनिष्ठाङ्गुष्ठकौ लग्नौ मुद्रा **चक्रस्य** सिद्धिदा।।

अन्योन्याभिमुखौ हस्तौ कृत्वा तु ग्रथिताङ्गुली।
अङ्गुल्यौ मध्यमे भूयः संलग्ने सुप्रसारिते।।
गदामुद्रा समाख्याता परा मुक्तिकरी तथा।
करौ तु सुमुखौ कृत्वा सम्मुखावुन्नताङ्गुली।
तलान्तर्मिलिताङ्गुष्ठौ कुर्यात्सा **पद्म**मुद्रिका।।

हस्तौ तु विमुखौ कृत्वा ग्रथयित्वा कनिष्ठके।
तर्जन्यौ मुखतः श्लिष्टे श्लिष्टावङ्गुष्ठकौ तथा।।
मध्यमाऽनामिकायुग्मे द्वौ पक्षाविव चिन्तयेत्।
एषा **गरुड**मुद्रा स्यादशेषविषशातिनी।।

अन्योन्याभिमुखौ हस्तौ कृतौ चेद् ग्रथिताङ्गुली।
अङ्गुष्ठौ च मिथः श्लिष्टौ मुद्रैषा **ग्रथिता**भिधा।।

मुष्टिद्वयस्य तर्जन्यौ प्रसार्योर्ध्वाधरीकृते।
ग्रथिते चेदसौ मुद्रा **यमपाशा**भिधा मता।।

हस्तं मुसलवत्कृत्वा मुष्टिमाबध्य तर्जनीम्।
प्रसार्य सङ्कुचेत्सेयं मुद्रा स्या**दङ्कुशा**भिधा।।

अत्रैव मध्यमाया अपि प्रसारणं सम्प्रदायसिद्धम्।

हस्ताभ्यामञ्जलिं कृत्वाऽनामिकामूलपर्वणोः।
अङ्गुष्ठौ निक्षिपेत्सेयं मुद्रा **त्वावाहनी** स्मृता।।

अधोमुखी त्वियं चेत्स्यान्मुद्रा **संस्थापिनी** मता।
उच्छ्रिताङ्गुष्ठमुष्ट्योस्तु संयोगात् **सन्निधापिनी**।।

अन्तःप्रवेशिताङ्गुष्ठा सैव **संरोधिनी** मता।
मुष्टिद्वयस्थिताङ्गुष्ठौ सम्मुखा तु परस्परम्।
संश्लिष्टावुच्छ्रितौ कुर्यात्सेयं **सम्मुख**मुद्रिका।।

मुष्टिद्वयस्य तर्जन्यौ प्रसार्याधोमुखीकृते।
अनुलोमविलोमेन भ्रामिते देवताऽभितः।
दुष्टदृष्टिनिरासाय सैषा मुद्राऽ**वगुण्ठनी**।।

हृदयादिषडङ्गानां मुद्रा देवतनौ कृताः।
सकलीकरणाभिख्याः सर्वावयवपूर्तिदाः।।

त्रिद्येकदशकत्रिद्विसङ्ख्याकाङ्गुलिभिः क्रमात्।
हृदयादिषडङ्गानां मुद्रा ऊह्या विपश्चिता।।

तर्जन्यादित्रयेण प्रसारितेन हृदयम्। अङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां प्रसाराभ्यां योजितमुखाभ्यामधोऽग्राभ्यां शिरः। प्रसृताङ्गुष्ठेनाधोमुखेन शिखा। करद्वयदशाङ्गुलीभिः प्रसृताभिः कवचम्। तर्जन्यादित्रयाग्रेण त्रिकोणाग्रतुल्येन नेत्रम्। द्विनेत्र्यां त्वनामिकालोपः। हस्तद्वयस्याप्यङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां सशब्दाभ्यामभितो भ्रामिताभ्यां अस्त्रमिति साम्प्रदायिकोऽर्थः।

अधोमुखी धेनुमुद्रा देवस्योपरि दर्शिता।
अमृतीकरणी प्रोक्ता परमानन्ददायिनी।।

अधोमुखौ ग्रथिताङ्गुष्ठौ प्रसृताङ्गुलिकौ करौ।
परमीकरणं नाम देवस्योपरि चालितौ।।

प्रसृताङ्गुलिकौ हस्तौ मिथः श्लिष्टौ च सम्मितौ।
कुर्यात्स्वहृदये सेयं मुद्रा **प्रार्थन**संज्ञिका।।

अञ्जल्याऽ**ञ्जलि**मुद्रा स्याद् **वासुदेवा**भिधा च सा।
सैव शीर्षादिपादान्तं चालिता चेदधोमुखी।
मुद्रैषा **व्यापिका** नाम सद्गुणव्याप्तिदायिनी।।

तर्जन्यादित्रये कार्ये हस्तयोः सङ्कुचन्मुखे।
प्रसारिते सुसरले तथाङ्गुष्ठकनिष्ठिके।।

दक्षहस्तस्य तर्जन्या वामस्यानामिकामुखम्।
अनामया च तर्जन्या मुखं मध्यां च मध्यया।।

अङ्गुष्ठेन कनिष्ठाया अङ्गुष्ठस्य कनिष्ठया।
स्पर्शयेद् **गालिनी** मुद्रा सैषा तीर्थापकर्षिणी।।

अङ्गुष्ठाग्रेण संस्पृश्ये कनिष्ठामध्यपर्वणी।
गन्धमुद्रेति सा ख्याताऽङ्गुष्ठयोर्मध्यपर्वणी।।

तर्जन्यग्रेण संस्पृश्ये **पुष्प**मुद्रेति कीर्तिता।
तर्जनी मध्यमाऽनामा मध्यपर्वाणि संस्पृशेत्।
अङ्गुष्ठाग्रेण ता धूपदीपनैवेद्यमुद्रिकाः।।

ऊर्ध्वाङ्गुलिभि**र्ग्रास**मुद्रा वामकरे कृता।
सैव **ताम्बूल**मुद्रा स्याद्दक्षे सङ्कुचिताङ्गुलिः।।

तर्जनीमध्यमाङ्गुष्ठः **प्राण**मुद्रा प्रकीर्तिता।
मध्यमाऽनामिकाङ्गुष्ठैः स्या**दपान**स्य मुद्रिका।।

कनिष्ठाऽनामिकाऽङ्गुष्ठै**र्व्यान**मुद्रा प्रकीर्तिताः।
तर्जन्यनामिकाङ्गुष्ठैः स्या**दुदान**स्य मुद्रिका।।

समानमुद्राऽङ्गुलिभिः संहताभिस्तु पञ्चभिः।
मणिबन्धस्थितौ कृत्वा प्रसृताङ्गुलिकौ करौ।।

कनिष्ठाङ्गुष्ठयुगले मिलित्वाऽन्ते प्रसारयेत्।
सप्तजिह्वाख्यमुद्रेयं वैश्वानरवशङ्करी।।

मिलिताऽनामिकाङ्गुष्ठमध्यमाग्राणि योजयेत्।
शिष्टे द्वे उच्छ्रिते कुर्यान्**मृग**मुद्रेयमीरिता।।

अनयोरुपयोगस्तु होमविधौ भविष्यति।

कमलाकृतिमुद्रा तु **सौर**मुद्रेति कीर्तिता।।

बिम्बमुद्रोक्ता कालिकापुराणे—

मुष्टिद्वयं तथोत्तानं कृत्वा संयोज्य पार्श्वतः।
दक्षिणस्य कनिष्ठादीन् प्रसार्य क्रमतः पुरः।।

तथा वामकनिष्ठादीन् एकैकान् सुप्रसारयेत्।
अष्टौ मुद्राः समाख्याता नाम तासां क्रमाच्छृणु।।

प्रोन्नामोन्नामने चैव बिम्बं पाशुपतं तथा।
शुद्धं त्यागः सारणी च तथा चैव प्रसारिणी।। इति ।।

कमलबिम्बमुद्रे सौरमन्त्रमात्रेषूपयुक्ते—

दक्षाङ्गुष्ठं वामाङ्गुष्ठे क्षिप्त्वा हस्तद्वयेन तु।
एकमुष्टिं सावकाशां कुर्यात्सा **कुम्भ**मुद्रिका।।

अधोमुखे वामहस्ते ऊर्ध्वास्यं दक्षहस्तकम्।
क्षिप्त्वाङ्गुलीरङ्गुलीभिर्ग्रथयित्वा विवर्तयेत्।।

प्रोक्ता **संहार**मुद्रेयं विनियुक्ता विसर्जने।

इयमेव **निर्याण**मुद्रेत्युच्यते।

(भास्कररायकृत 'तृचभास्कर' से उद्धृत)

●

तन्त्रशास्त्र के महत्वपूर्ण प्रकाशन :

* **अन्नदाकल्पतन्त्रम्** । हिन्दी टीका सहित । एस. एन. खण्डेलवाल
* **एकजटातारासाधनतन्त्रम्** । हिन्दी टीका सहित । एस. एन. खण्डेलवाल
* **कुण्डलिनी शक्ति** । अरुणकुमार शर्मा
* **कुलार्णव तन्त्रम्** । हिन्दी टीका सहित । परमहंस मिश्र
* **तन्त्रविज्ञान और साधना** । सीताराम चतुर्वेदी
* **तन्त्रसारः** । 'नीर-क्षीर-विवेक' नामक हिन्दी टीका सहित । परमहंस मिश्र । 1-2 भाग
* **तन्त्रालोक** । जयरथकृत संस्कृत टीका एव राधेश्याम चतुर्वेदी कृत हिन्दी टीका सहित
* **त्रिपुरा रहस्यम्** । ज्ञानखण्ड एवं महात्म्खण्ड । हिन्दी टीका सहित । जगदीश चन्द्र मिश्र
* **नीलसरस्वती-तन्त्रम्** । हिन्दी टीका सहित । एस. एन. खण्डेलवाल
* **भूतडामरतन्त्रम्** । हिन्दी टीका सहित । एस. एन. खण्डेलवाल
* **मन्त्रमहोदधि** । 'नौका' संस्कृत टीका तथा 'अरित्र' हिन्दी टीका सहित । सुधाकर मालवीय
* **रूद्रयामलतन्त्रम्** । हिन्दी टीका सहित । सुधाकर मालवीय । 1-2 भाग
* **ललितासहस्त्रनाम्** । हिन्दी टीका सहित । श्रीभारतभूषण
* **वरिवस्यारहस्यम्** । संस्कृत हिन्दी टीका सहित । श्यामाकान्त द्विवेदी
* **वर्ण-बीज-प्रकाशः** । सरयू प्रसाद द्विवेदी
* **शारदातिलकम्** । हिन्दी टीका सहित । सुधाकर मालवीय । 1-2 भाग
* **सर्वोल्लास-तन्त्रम्** । हिन्दी टीका सहित । एस. एन. खण्डेलवाल
* **सिद्धनागार्जुनतन्त्रम्** । हिन्दी टीका सहित । एस. एन. खण्डेलवाल
* **सौन्दर्यलहरी** । 'लक्ष्मीधरी' संस्कृत एवं 'सरला' हिन्दी व्याख्या । सुधाकर मालवीय

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
वाराणसी